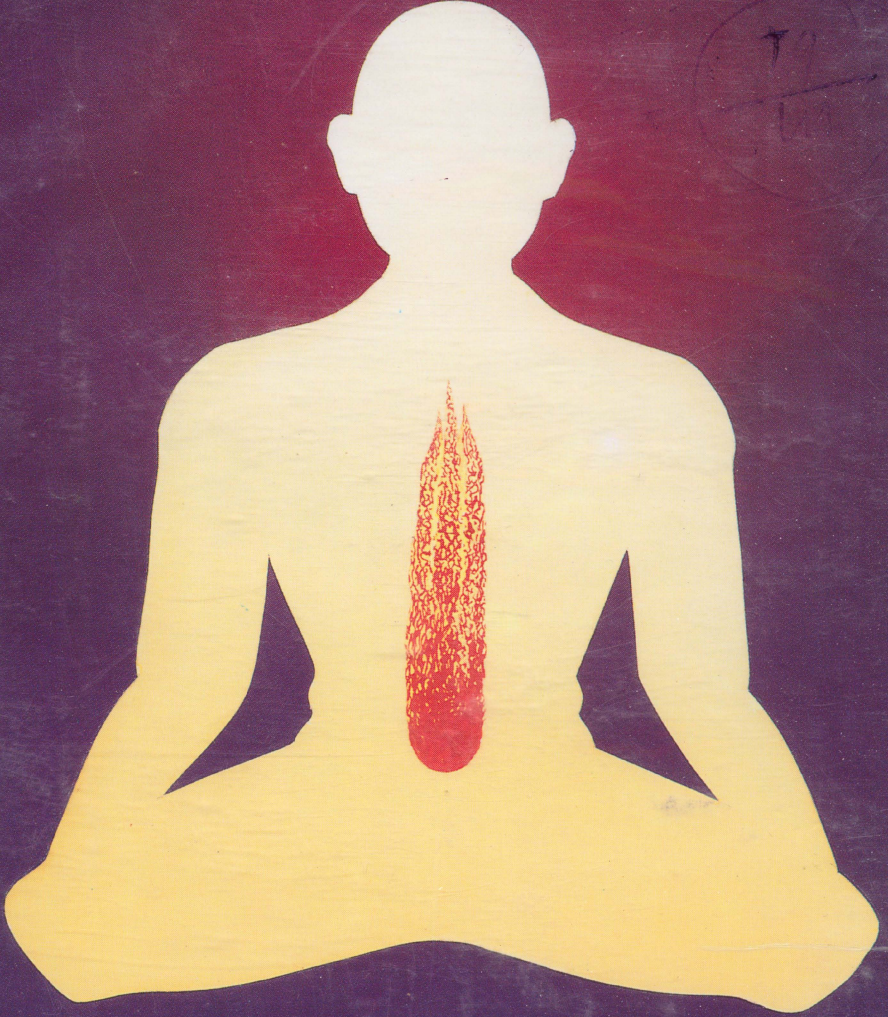


ध्यान

साधना और सिद्धि



श्री चन्द्रप्रभ

ध्यान व्यक्ति की नहीं, सम्पूर्ण विश्व की आवश्यकता है । जिस तरह से उच्च रक्तचाप, हृदयरोग और मानसिक तनाव की बढ़ोतरी हो रही है, उसे देखते हुए अन्ततः सबको ध्यानयोग की शरण में आना होगा । एक सम्पूर्ण स्वस्थ विश्व का आनन्द पाने के लिए हर व्यक्ति ध्यान-योग-प्राणायाम को जीवन का अनिवार्य चरण बनाए ।

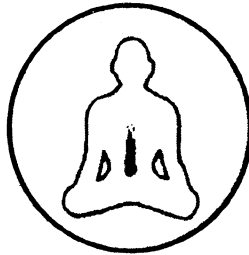
—श्री चन्द्रप्रभ

संविभाग

श्री प्रेमकिशोरजी—श्रीमती पूरणदेवी अग्रवाल
की स्मृति में
श्री सुशीलकुमार, रमेशकुमार अग्रवाल, जोधपुर

ध्यान

साधना और सिद्धि



ध्यान : साधना और सिद्धि
श्री चन्द्रप्रभ

सम्पादन
श्रीमती लता भंडारी
'मीरा'

प्रकाशन—वर्ष: मई, २००३/द्वितीय संस्करण

सन्निधि : गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर जी
प्रकाशन : जितयशा फाउंडेशन, ९सी, एस्प्लानेड ईस्ट, कोलकाता-६९
कम्पोजिंग : ललित कम्प्यूटर, जोधपुर/मुद्रण: अनमोल प्रिन्ट्स, जोधपुर
मूल्य : २५/-



संकेत

मनुष्य के सम्पूर्ण स्वास्थ्य के लिए जितनी आवश्यकता सम्यक् भोजन एवं औषधि की है, आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए उतनी ही ध्यान और योग की। प्रस्तुत ग्रन्थ 'ध्यान : साधना और सिद्धि' पूज्यश्री द्वारा ध्यान-साधकों को संबोधित प्रवचन एवं ध्यानयोग-साधना के अभ्यास-क्रम का संचयन है।

'ध्यान : साधना और सिद्धि' पूज्यश्री का वह दर्शन है, जिसमें मनुष्य की मानसिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं का समाधान प्ररूपित है। उनके वक्तव्य किसी धर्म के प्रवचन नहीं, वरन् अन्तर्दृष्टि से जीवन की गहराई में उतरकर आत्मसात् किए अनुभव के मुक्ता-कण हैं। वे 'मधुरिम' हैं, उनकी वाणी और अनुभूति मधुरिम हैं। इससे भी ज्यादा मधुरिम है उनका मौन, शान्तचेता स्वरूप।

हम एकाकार हों सीधे मूल वाणी के साथ, उन्मुक्त/आनन्द-भाव से।

सार-संक्षेप

“युवक का प्रश्न था, ‘ध्यान, आखिर क्या है?’

संत ने बगैर कुछ कहे कंधे पर लटका बोझिल थैला उतारा और वहीं जमीन पर उलटा कर दिया। युवक ने पूछा, ‘और कुछ?’ संत ने खाली थैला उठाया, कंधे पर लटकाया, बगैर कुछ कहे रवाना हो गए राजमार्ग की ओर।

युवक के पास प्रतिभा थी, प्रज्ञा थी। वह समझ गया ध्यान के मर्म को और उपलब्ध हो गया स्वयं के प्रकाश को।

ध्यान में उतरने से पहले, ध्यान के मर्म को समझो और फिर ध्यान में उतरो। एक बार और, इस संवाद पर मनन करो और मुक्त हो जाओ। तुम अभी इसी क्षण आध्यात्मिक शान्ति से आह्लादित हो उठोगे।”

—श्री चन्द्रप्रभ

अनुक्रम

१. उड़िए पंख पसार	१-११
२. एक डुबकी अपने भीतर	१२-२६
३. मन को मिले सार्थक दिशा	२७-३९
४. विचार-शक्ति का विकास	४०-५०
५. साक्षीभाव ही साधना का गुर	५१-५९
६. ध्यान वही, जो घटे जीवन में	६०-७०
७. मनुष्य का मन और ध्यान का विज्ञान	७१-८२
८. ध्यान और विश्व का भविष्य	८३-८९
९. जीवन जिएँ अन्तर्हृदय से	९०-१००
१०. मुक्ति हो, मृत्यु नहीं	१०१-११५
११. ध्यानयोग : प्रयोग-पद्धति	११६-१४५

उड़िये पंख पसार

मेरे प्रिय आत्मन्,

मनुष्य-जीवन का फूल बड़े सौभाग्य से खिलता है। किसी भी प्राणी के लिए निरन्तर प्रतीक्षा और पुण्य-संचय के बाद ही मनुष्यत्व का फूल खिला करता है। किसी मनुष्य का पशु या देवता होना सरल है, लेकिन मनुष्य का मनुष्य होना ही कठिन हो गया है। मनुष्य का अपने स्तर से गिर जाना ही पशुत्व है और ऊपर उठ जाना ही देवत्व का प्रतीक है। देव तो ऊपर उठ ही चुके हैं, लेकिन मनुष्य के सामने सभी विकल्प खुले हुए हैं। वह जो चाहे हो सकता है - पशु, मनुष्य या देव। मनुष्य के हाथ में मनुष्यत्व रहे, यही जीवन का वरदान है। अन्तर्मन से मनुष्यत्व का छिटक जाना जीवन का अभिशाप है।

यह प्रकृति का अनुग्रह है कि हम स्वस्थ इंसान हैं। आजीविका भी उचित संसाधनों से ही प्राप्त करते हैं। हम न तो किसी प्रकार के दुर्व्यसन से ग्रस्त हैं और न ही किन्हीं हिंसक प्रवृत्तियों में संलग्न हैं, लेकिन फिर भी ऐसा क्या है कि हम अपने मनुष्यत्व की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। हम पाते हैं कि हमारे भीतर से मनुष्य हट गया है। वह कभी पशु हो जाता है, कभी देवत्व की ओर चला जाता है। बस, नहीं रह पाता तो मनुष्य नहीं रह पाता। धर्म से वह अपने होने की तो मुक्ति चाहता है, लेकिन मनुष्यत्व नहीं पा पाता। और जब तक मनुष्यत्व नहीं मिलता, तब तक आत्मविश्वास और उत्थान के सारे

मार्ग स्वतः ही अवरुद्ध हो जाते हैं ।

मनुष्यत्व ईजाद होगा मनन करने से । मन से ही मनुष्यत्व का सम्बन्ध है । मन को मनन की दिशा देकर ही मनुष्यत्व को सार्थक किया जाता है । अभी मन में मनुष्यत्व कहाँ है ! अभी तो मन में पशुता है, पाशविकता है । अपने पाशविक मन को देवत्व की दीप्ति से आलोड़ित करना ही मनुष्यत्व है । बुद्ध का विवाह हुआ । संतान हुई । महावीर के भी संतति हुई । यह सब मनुष्य के उस मन का काम था, जिसमें वासना रहती है । महावीर के मातापिता की मृत्यु हुई, जलती हुई चिता देखी और चेतना जग उठी । बुद्ध ने दीन-हीन मनुष्य की स्थिति देखी, उनके हृदय का देवता जग उठा । मन का कायाकल्प हो गया । मन की दिशा और दशा दोनों बदल गई । यानि मनुष्यत्व का जन्म हो गया । मन मर गया, मनु पैदा हो गया । व्यक्ति गौण हो गया, व्यक्तित्व महान हो गया ।

आज मनुष्य भटकता हुआ दिखाई देता है । चाहे इसे समय का प्रवाह कहें या संस्कारों का प्रभाव, हर ओर भटकाव ही नजर आता है । यह कोई रास्तों पर भटकना नहीं है । यह तो मनुष्य का स्वयं से भटकाव है और यही विचारणीय भी है । पता लापता हो जाए तो ठिकाना मिल जाएगा, लेकिन जब वह अपने मन के गलियारे में अटक जाए, वहीं भटक जाए तो उसे अपने बारे विचार करना चाहिए । हमें भगवान और आत्मा के बारे में उतना विचार नहीं करना है जितना स्वयं के मनुष्यत्व के बारे में । पहले हम यह तो जान लें कि मानवीय स्वरूप के चलते हमारे अंदर क्या विशिष्टताएँ होनी चाहिए और हमारे पास क्या खामियाँ हैं ।

हम जब इंसान को भटकता हुआ देखते हैं तो पाते हैं कि वह भीड़ में अकेला और अकेले में भीड़ जुटाए हुए है । वह निर्णय ही नहीं कर पाता कि वह चाहता क्या है । जब भीड़ में है और उसे कोई देख नहीं रहा, छू नहीं रहा, बात नहीं कर रहा, उसकी सुन नहीं रहा, तब अपने को अकेला समझने लगता है और एकांत होने पर जब अकेलापन चाहता है तो विचारों की भीड़ में डूबता उतराता रहता है । प्रवृत्ति से पलायन करना चाहता है, पलायन किये जाने पर प्रवृत्ति का ख्वाब पीछा नहीं छोड़ता । संसार में रहकर संन्यास के ख्वाब देखता है और संन्यासी होकर संसार के चने चबाना चाहता है । पिंजरे का पक्षी आकाश में उड़ने के स्वप्न देखता है और आकाश का पक्षी सोचता है कोई ऐसा उपाय करूँ कि पिंजरे में आराम से दाना-पानी प्राप्त करूँ । मनुष्य स्वयं ही यह समझने में असमर्थ है कि उसे किस बात का तनाव है, किससे घुटन है, किस तरह की रागात्मक और हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ हैं । उसे क्यों अनिद्रा-रोग ने घेरा है । मनुष्य अपने

मन से अबूझ है। वह अन्तर्मन से रुग्ण है।

स्वयं को जानने और समझने का हमारे पास समय ही नहीं है। हम औरों को तो जान लेते हैं, पर स्वयं से अनजान रह जाते हैं। औरों की किताबें पढ़ लेते हैं, पर अपनी किताब अनपढ़ी रह जाती है। दूसरों के मन में हमारे प्रति क्या भाव हैं यह तो जाँच लेते हैं, लेकिन स्वयं के मन से हम अनचीन्हे ही हैं। मन के उलझाव भी स्वयं के स्वार्थ, स्वयं के विकार और स्वयं की कामनाओं के ही हैं। जब मन के हाथ में मनुष्यत्व आ जाएगा, तब मन मनुष्य का वरदान हो जाएगा। मन स्वयं परमात्मा का मंदिर हो जाएगा। हम पढ़ते और सुनते आ रहे हैं कि भगवान अवतार लेते हैं पर प्रश्न है कहाँ? भगवान अवतार लेते हैं मनुष्य के निर्मल हो चुके मन में। कहते हैं कृष्ण गोपिकाओं के साथ रास रचाते हैं। आज तो यह सब स्वप्न-सा लगता है। हमारे विकलांग और विकृत मन में वह पवित्रता और पात्रता नहीं है कि हम प्रभु को निमंत्रण दे सकें कि वह हमारे अन्तर्मन में विहार करे, हमारे साथ अठखेलियाँ करे।

माना, दुनिया का नक्शा बहुत बड़ा है। इसमें अनगिनत देश, राष्ट्र और कौमें हैं, लेकिन मनुष्य का नक्शा बहुत छोटा है, इसका अत्यंत सीमित संसार है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हमारे स्वार्थी और घरों में सिमट गया है। हम अपनी चारदीवार को लाँघ ही नहीं पाते। शायद जिसे हम पशु कहकर हेय-तुच्छ समझते हैं, उसमें भी मानवता के चिह्न मिल जाएँगे, पर मनुष्य कितना छोटा हो रहा है, शायद इस ओर हमारा ध्यान नहीं है। एक पशु में कितनी ममता और सहानुभूति होती है। इसके कई मर्तबा उदाहरण देखे जा सकते हैं। कल ही संबोधि-धाम की ओर जाते हुए मैंने देखा कि एक कुतिया अपने बच्चों के साथ अन्य मृत कुतिया के पिल्लों को भी दुग्धपान करा रही थी। कहीं कोई अन्यथा भाव नहीं, बल्कि निश्चितता कि वह दूसरों की भी व्यवस्था कर रही है। क्या हमारे अंदर ऐसी इंसानियत है कि हम पड़ोसी का हित साध सकें। हम अपने स्वार्थ के साथ दूसरों का स्वार्थ तो साध सकते हैं, लेकिन अपने हित में पड़ोसी का हित स्मरण रख पाते हैं? हमारा संसार बहुत ही छोटा है। करुणा और ममता केवल अपनों पर उमड़ती है। अपने भी कौन, जिनसे संसार ने खून का संबंध दिया है और बहुत हुआ तो चमड़ी या दमड़ी का सौन्दर्य आकर्षित कर लेता है।

पशु तो अपने से अलग जाति के जीव पर आक्रमण करता है, पर यहाँ तो मनुष्य, मनुष्य पर ही आक्रमण कर रहा है। उसका व्यवहार पशु से भी बदतर होता जा रहा है। उस मीनार पर बैठे कबूतर की ओर ध्यान दें। ये परिदे तो कभी मंदिर पर भी

बैठ जाते हैं और कभी मस्जिद पर भी । जो मस्जिद पर बैठा है, वही कभी गिरजाघर में होने वाली प्रार्थना भी सुन आता है, तो कभी गुरुद्वारे में भी उड़ आता है । एक हम हैं जो भगवान की आराधना के लिए बनाई जाने वाली इमारतों और मीनारों को मन्दिर-मस्जिद-गिरजा का नाम देकर एक-दूसरे से दूर हो जाते हैं, वैमनस्य कर बैठते हैं, दंगे-फसाद हो जाते हैं । क्या हम इस ओर गौर फरमाएँगे ? मैं चाहता हूँ एक बार हम अपने आपका, अपने आदर्शों का, अपने यथार्थों का, अपने मूल्यों का मूल्यांकन करें । हम अपने आपको पहचानें, अपने आपको तौलें ।

ध्यान-शिविर का उद्देश्य स्वयं का स्वयं से परिचय है । स्वयं यानि जो हम हैं । भीतर से जो हम हैं । जरूरी नहीं है कि मनुष्य भीतर भी मनुष्य हो । बाहर तुम मनुष्य हो, भीतर तुम्हारे सर्प का क्रोध फुफकार रहा हो । लोभ का दलदल हो । मूर्च्छा का अंधेरा हो । हिंसा के कारतूस हों । वैर-विरोध के सांड हों । मूर्खता के गधे हों । यह भी संभव है कि आपका अन्तर्मन सुखशांति के गुलाब से सुवासित हो । प्रेम का प्रभात खिला हो । सहानुभूति का सागर लहरा रहा हो । समता का संगीत फूट रहा हो । नेकी की नेमत से शृंगारित हो ।

कहा नहीं जा सकता कि कौन किस स्थिति में है । मनुष्य कब प्रेत का स्वरूप अख्तियार कर ले और कब देव का । अब यह मनुष्य का मन है । इसका अगला पल कैसा होगा, यह कोई हमारी हस्तरेखा में लिखा थोड़े ही होता है । हम मन से रूबरू हों । ध्यान मन को पहचानने का मार्ग है, मन से अतिक्रमण कर लेने का मार्ग है, मन से मुक्त हो जाने का गुर है । जब हम स्वयं को जान लेते हैं, एक को जान लेते हैं मानो हम सभी को जान लेते हैं । स्वयं का प्रतिबिम्ब सबमें दिखाई देने लगता है । तब हम खुद के पुत्र और दूसरे के पुत्र में फर्क नहीं कर सकते । हमारा स्नेह, हमारी करुणा, हमारे ममत्व के सभी भागीदार हो जाते हैं । यह शिविर हमें ऐसी श्रद्धा देता है कि हम मंदिर और घर में भेद न कर सकें । हम घर को स्वर्ग का वह रूप दें कि घर खुद ईश्वर के प्रणिधान का मंदिर हो जाए । यह शिविर एक ऐसी श्रद्धा देता है कि बाल कृष्ण और अपने बालक में भिन्नता न रह जाए । बालकृष्ण के मंदिर में अगर माखन-मिश्री चढ़ाते हो, उस समय यदि अपना पुत्र आकर माखन-मिश्री की मांग करे तो उसमें बालकृष्ण का स्वरूप दिखाई दे जाए और मंदिर में दिया जाने वाला अर्घ्य पुत्र की उदर-पूर्ति कर दे । मेरी प्रेरणाएँ केवल ईंट-पत्थर के मंदिर में जाने के लिए नहीं हैं, अपितु आप जहाँ हैं वहीं मंदिर का नियमन हो जाए । वह दृष्टि प्राप्त हो जाए कि अपने ही बच्चे में कृष्ण का रूप देख सकें । कृष्ण तो सदा ही आपके आसपास है, बस आपको वह आँख मिल जाए कि कृष्ण नजर

आने लगे । साधक, तुम उस दृष्टि के स्वामी बनो कि सिवा उसके और कोई नजर ही न आए । नानक ने कहा था मेरे पाँव उस ओर कर दो, जिस ओर उसका निवास न हो ।

सच में, हमारे उलझाव तभी तक हैं जब तक समझ नहीं मिल जाती । तुम्हारा पुत्र भी तभी तक तुम्हारे साथ है जब तक वह अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो जाता है । पंख निकलने तक ही बच्चा चिड़िया के पास रहता है । पंख लगते ही वह कुलांचे भरने लगता है । इसके बाद भी अगर पुत्र माता-पिता के पास रह जाए तो बहुत सौभाग्य की बात है । लेकिन यह सौभाग्य बहुत कम लोगों को उपलब्ध है । और जब पंख निकलने पर उड़ना ही है तो किस दलदल में आँखें अटकी हुई हैं । हम देख रहे हैं इस नश्वर काया को, जो भी इस भूतल पर अवतरित हुआ फिर वह तीर्थकर हों या पैगम्बर या अवतार सभी को यहाँ से विदा लेनी पड़ी । फिर हम किसके लिए और क्यों इतने जाल फैला रहे हैं । हमारे पूर्वजों ने भी यही किया, हम भी यही कर रहे हैं और आने वाली पीढ़ियाँ भी यही करती रहेंगी । आखिर क्यों ? हमें इन सबसे हासिल क्या हो रहा है । सिर्फ यही कि हमारी मालकियत खोती जा रही है । हम माल तो बटोर रहे हैं, लेकिन मालिक गायब हो गया है । उस माल की कीमत ही क्या जिसका मालिक ही न बचे । जरा बताइए, हमारे हाथ में क्या है हमारी मनुष्यता या महज दुकानदारी ?

तुम अपने छोटे से संसार को कितना जियोगे । जीना है तो पूरे संसार को जियो, दायरों में सिमटकर क्या जीना । एक गधा तो नासमझ है, स्वयं के लिए सोच नहीं सकता इसलिए घर और घाट के बीच घूम रहा है, लेकिन तुम्हारे साथ कोई मजबूरी नहीं है । तुम तो सोच सकते हो कि अतीत में व्यतीत वर्षों से क्या पाया-क्या खोया । तुम तनिक देखो तो सही तुमने खोया ही खोया है, और जिसे पाना कहते हो वह तो खो ही जाने वाला है । क्या कुछ ऐसा पा सके जो तुम्हें तृप्ति दे गया या संतोष दे गया ? नहीं, तुम्हें जो मिल रहा है तुम उसके पीछे दौड़ रहे हो । तुम अपनी कामनाओं के पीछे दौड़ रहे हो, लेकिन जितनी वह तुम्हें पास लगती है वहाँ पहुँचकर तुम पाते हो दूरी उतनी की उतनी है और तुम्हारी दौड़ जारी रहती है । बहुत दौड़ लिए । अब जरा रुककर भी देखो । देखो जिनके पीछे दौड़ रहे हो, वह बहुत क्षणिक हैं । इसके अलावा एक शाश्वत भी है, जिसे दौड़कर नहीं, ठहरकर पाया जाता है । अब यह दौड़ बंद करो और रुक कर देखो, सजग होकर देखो, अन्तर्दृष्टि से देखो । वह तुम्हारे बिल्कुल नजदीक है । कामना का क्षितिज कभी नहीं छू पाओगे, लेकिन उसका आकाश बिल्कुल करीब, तुम्हारे ही अंदर है । कृपया अपने आपको पढ़ो ।

मेरे देखे, जीवन से बढ़कर दुनिया में कोई शास्त्र नहीं है। इसके पृष्ठ तुम्हारे सामने खुले हुए हैं। जरा आँखें खोलो और इस शास्त्र को पढ़ो। प्रेरणा देने और प्रेरणा पाने के लिए जीवन से बढ़कर कोई दूसरा गुरु नहीं है। लेकिन हम भटक रहे हैं और खोज रहे हैं कि कोई गुरु मिल जाए। कभी-कभी नसीब से गुरु मिल भी जाता है तो उससे भी संसार की ही पूर्ति करा रहे हैं। अपनी कामनाओं के मकड़ जाल में उसे भी उलझाने की कोशिश करते हैं। अपने संसार में उसकी भी आहुति देने के प्रयास में जुट जाते हैं। हमारी मनुष्यता कहीं लुप्त हो जाती है और स्वार्थ-साधन की प्रवृत्ति गुरु के आसपास भी घेरा बनाने लगती है। हम उस पर भी अपनी मालिकियत करने से बाज नहीं आते। हम कभी पूरे मनुष्य नहीं रह पाते हैं।

एक पशु पूरा पशु है, एक पक्षी पूर्ण पक्षी है, लेकिन क्या हम पूरे मनुष्य हैं ? यही प्रश्न विचारणीय है कि क्या मनुष्य पूरा मनुष्य है ? नहीं, वह अपने मनुष्यत्व का मालिक नहीं बन पा रहा है। स्वयं से मालिकियत उठती जा रही है। वस्तुओं का मालिक भी नहीं रहा फिर स्वयं की मालिकियत कहाँ। मनुष्य के दिन और रात अंधेरे में बीत रहे हैं। रात तो अंधेरे में है ही, दिन में भी उजाला नहीं है। मनुष्य के पास रोशनी का कौन-सा आयाम है ! वस्तुओं का संग्रह उसकी प्रवृत्ति है बिना यह जाने कि इसका क्या उपयोग हो रहा है। केवल जमा करना उसकी आदत बन गई है और जब मृत्यु की वेला नजदीक आती है तब वह विवश है यह देखने को कि उसके साथ कुछ नहीं जा रहा है। जीवनभर संग्रह किया, पर जाते समय मुट्ठी भर भी न ले जा सका। फिर संग्रह किसके लिए ? क्या मिट्टी होने के लिए ?

सिकंदर के जीवन की घटना है- जब सिकंदर मृत्यु शैया पर था, तो उसके आसपास सेना के अफसर खड़े हुए थे। वे अफसर जिन्होंने अपने सम्राट के विश्व-विजय अभियान में प्रमुख भूमिका निभाई थी। उनकी आँखें अश्रु से भरी हुई थीं। सिकंदर प्रतिपल मृत्यु की ओर बढ़ रहा था और वे लाचार थे। विश्व का सम्राट कितना दयनीय लग रहा था। तभी सिकंदर ने आँखें खोलों और कहा, 'मेरी एक अंतिम इच्छा है जिसे तुमलोग अवश्य पूरी करना। सभी अफसर चकित कि मृत्यु शैया पर पड़े सम्राट की क्या इच्छा हो सकती है। उन्होंने प्रश्नभरी निगाहों से सम्राट को देखा। सम्राट ने कहना जारी रखा, 'जब मेरी अर्थी उठे तो मेरे दोनों हाथ बाहर रखना ताकि दुनिया देख सके कि सम्राट होकर, सारी दुनिया का बादशाह होकर भी खाली हाथ जा रहा हूँ।'

मृत्यु के समय कितना नैराश्य ! टूट जाता है आदमी, मरने से नहीं, मृत्यु के अहसास हो जाने भर से । मृत्यु की मंजिल पर मुस्कान उसके होठों पर रहती है जो जीवन से संतुष्ट रहता है, आन्तरिक मौन और आनन्द-लाभ का संवाहक रहता है ।

तुम निश्चित रहो । हर हाल मस्त ! तुम्हें किसी की चिंता करने की जरूरत नहीं है । जिसने तुम्हें संसार में भेजा है वह सबकी चिंता कर रहा है । उसने पहले व्यवस्था जुटाई है तब संसार में भेजा है । तुम केवल अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन करो क्योंकि तुम माध्यम हो जिसके जरिए संसार का विस्तार हो रहा है । तुम केवल सहयोगी हो, सर्वेसर्वा नहीं; फिर गुमान किस बात का । अमीरों को लुढ़कते और गरीबों को चढ़ते कितना समय लगता है । पता ही नहीं चल पाता कि कब किसका पहिया ऊपर गया और कब नीचे आया । परमात्मा सबको व्यवस्था देता है । असली व्यासपीठ पर तो वही बैठा है । सबके बर्तन उसी की चाक पर बनते हैं । फिर हम क्यों उलझे रहें । हमें तो ऐसा जीवन जीना चाहिये कि अन्तर्मन में न किसी तरह का भार हो, न कहीं कोई बंधन हो, न कोई बेड़ी हो । तुम तो पंछी बनो उन्मुक्त आकाश के । पंख पसारो और विहार करो । यह ध्यान का मार्ग हमें उन्मुक्त आकाश देगा । हमारे बोझ और बंधनों की बेड़ियों को काट कर शांति और स्वतंत्रता का दीप जलाएगा, जिसकी ज्योति में हम आनन्द के साथ जीने की प्रेरणा पा सकेंगे । ध्यान हममें जगाएगा ऐसा जागरण कि हम देख सकेंगे अपने होने को, अपनी सहजता को । अपनी पूर्णता को ।

आज तक दुनिया में जागकर कोई क्रोध नहीं कर पाया है । जाग भी हो और क्रोध भी; ऐसा सम्भव नहीं है । या तो जागरण रहेगा या क्रोध । अगर अन्तर्मन और अन्तर्वृत्ति के प्रति सजगता है, तो क्रोध जन्म ही न ले पाएगा । क्रोध पैदा तब होगा, जब मन में किसी बात को लेकर कोई प्रतिक्रिया उठेगी । जो शान्त हो चुका है, मौन हो चुका है जिसका मन, उसे प्रतिक्रिया क्यों कर उठेगी । वह क्रोधित क्यों होगा । वह शान्त था, शान्त रहेगा । निर्मल और अतिकृत रहेगा ।

ऐसा हुआ, बुद्ध किसी गाँव से गुजरते थे । वहाँ के लोग बुद्ध के प्रति बहुत क्रोधित थे । वे इकट्ठे हुए और लगे देने बुद्ध को गालियाँ । थोड़ी देर बाद बुद्ध ने कहा, 'मित्रों, अगर तुम्हारी बात पूरी हो गई हो तो मैं जाऊँ, मुझे दूसरे गाँव जल्दी पहुँचना है ।' 'बात, कैसी बात ! हम तो तुम्हें गालियाँ दे रहे हैं । क्या इतनी सीधी-सी बात तुम्हें समझ में नहीं आती— भीड़ में से कोई बोला । बुद्ध ने कहा 'तुम गालियाँ दे रहे हो, यह तो मुझे भी समझ में आ रहा है, लेकिन मैंने गालियाँ लेना बंद कर दिया । और जब तक मैं

न लूँ तुम्हारे देने से क्या होगा । जब से जगा हूँ गलत चीजों को लेना बंद कर दिया है । होश से भरा हुआ आदमी गाली नहीं ले सकता । अब मैं जाऊँ ?

वे लोग बहुत हैरान हुए । जाते समय बुद्ध ने कहा- 'एक बात और बताऊँ पिछले गाँव में लोग मिठाइयाँ लेकर आए थे । मैंने कहा, पेट भरा है । यह भी इसीलिए कह सका कि जागा हुआ था । जागकर देखता रहता हूँ तो गलती करना बहुत मुश्किल हो जाता है । वे लोग मिठाइयाँ वापस ले गए । अब आप बताइये उन्होंने मिठाई का क्या किया होगा ।' 'अरे घर जाकर बाँट दी होगी' भीड़ में से एक बोला । 'मुझे यही चिंता हो रही है, तुम सब पर बहुत दया आ रही है, तुम अब इन गालियों का क्या करोगे । मैं लेता नहीं; ले भी नहीं सकता, चाहकर भी नहीं ले सकता । बहुत मुश्किल हो गई है यह बात, क्योंकि जागा हुआ व्यक्ति गलत को कैसे स्वीकार करे ।

ध्यान यह परिणाम देगा जागृति का, समदर्शिता का, जीवन को जीने का । संबुद्ध साधक की दृष्टि में न जीवन है, न मृत्यु है । यह तो जगत के पड़ाव हैं । इसलिए चाहे तनाव हो या घुटन, पीड़ा हो या दुख, भीड़ हो या तन्हाई, सांसारिक लिप्तता हो या अलिप्तता, ध्यान के पथिक इससे निस्पृह रहते हैं । उनके चित्त की मुस्कान निरंतर यथावत् रहती है । ध्यानस्थ मन ही मुक्ति का द्वार खोलता है । जाग्रत चेतना ही त्रुटियों का परिष्कार कर सकती है ।

मैंने बचपन में एक प्रेरणा पाई थी । मैंने पढ़ा था कि भगवान कृष्ण ने शिशुपाल के लिए यह वचन दे रखा था कि, 'मैं शिशुपाल की निन्यानवें गलतियों को क्षमा कर दूँगा, लेकिन सौर्वी गलती होने पर दंड देने के लिए स्वतंत्र रहूँगा ।' उधर शिशुपाल गलतियों पर गलतियाँ करता चला गया, कृष्ण की उपेक्षा पर उपेक्षा होती रही । डगर-डगर पर कृष्ण अपमानित होते रहे । वह तो हाथ में अंगारे लेकर ही बैठा था, लेकिन शांत झील में सब कुछ समाता चला गया । कृष्ण की चेतावनी की उपेक्षा कर (शायद भूल ही गया हो) अपनी क्रोधाग्नि को भड़काए रखा । हम सभी जानते हैं अंत में उसका क्या हश्र हुआ ।

एक बात कहना चाहूँगा अगर कृष्ण निन्यानवें गलतियों को क्षमा कर सकते हैं, तो क्या हम नौ भी माफ नहीं कर सकते । थोड़ी-सी क्षमाशीलता तो हमारे पास भी होनी चाहिए । इतनी सहिष्णुता तो हमारे अंदर होनी ही चाहिए । किसी के दुर्व्यवहार के प्रति कुछ तो हमें करुणाशील होना ही चाहिए । देखने में यह आता है कि हम तो एक गलती भी माफ नहीं कर पाते । किसी ने कुछ कहा नहीं कि उत्तर तैयार रखा है । वास्तव

में उत्तर तो तैयार ही रहता है। बस सामने वाले की प्रतीक्षा रहती है। ईंट आये उससे पहले ही पत्थर तैयार पड़ा है। हम तो उस सर्प की तरह हैं जो जीभ लपलपाता ही रहता है कि छुआ नहीं और डँस लिया। हम किस तरह के इंसान हैं? हमारे हाथ में है क्या? सिवा हाथ के। हाथ में कुछ रखना ही है तो अपने पुरुषत्व को रखो और देखो कि क्या हमारे हाथ में मनुष्यत्व है?

मनुष्य संपूर्ण मनुष्य बने, यह ध्यान का प्रयोजन है। जीवन जीने के लिए साधन चाहिए लेकिन साधन ही साध्य न बन जाएं। धन की आवश्यकता है। धन के बिना साधन नहीं होंगे, सुविधाएँ नहीं होंगी, धन के बिना समाज में इज्जत भी नहीं होती, लेकिन स्मरण रखें धन के पीछे दौड़ते हुए लक्ष्य से ही न भटक जाएँ। धन की जरूरत हो सकती है, लेकिन धन ही सब कुछ नहीं है। यह ख्याल बना रहना चाहिए। मैं जानता हूँ दुनिया में किसी को परमात्मा नहीं चाहिए सिर्फ धन चाहिए। मैं तो यह भी देखता हूँ कि जो संसार को छोड़कर संन्यास ले लेता है उसे भी धन चाहिए। अच्छा हो अब परमात्मा के मंदिरों की जगह धन के मंदिर बना दिए जाएँ जिससे वहाँ जाकर अपनी कामनापूर्ति कर सको। क्योंकि तुम मंदिरों में धन पाने ही तो जाते हो। परमात्मा से प्रार्थना भी करते हो तो धन की मांग करते हुए।

कभी तुमने ध्यान दिया है तुम कैसी प्रार्थना बोलते हो। उसमें क्या-क्या इच्छाएँ भरी होती हैं। कभी तुम पुत्र मांगते हो, कभी धन, कभी भंडार भरने की प्रार्थना करते हो। अरे कभी अपनी प्रार्थना में यह कृतज्ञता प्रकट की है कि तूने इतना दिया है कि मैं इसके लायक भी न था? कभी धन्यवाद दिया कि आज इतना सुस्वादु भोजन मिला? नहीं, तुम्हारी प्रार्थना भी कामना का ही दूसरा रूप है। प्रार्थना केवल कामना की पूजा रह गई है। मनुष्य निश्चय ही ईश्वरीय शक्ति के साथ जुड़े, लेकिन अपने मनुष्यत्व में दिव्यत्व की प्रार्थना लिए। बगैर ईश्वरीय शक्ति के आदमी महज दोपाया जानवर ही होता है। हम अपने मन में रहने वाली पशुता में प्रभुता का प्रकाश संचारित करें। प्रभु और प्रभुता को व्याप्त हो जाने दें, ताकि पशुता का प्रेशर कम हो। हम ईश्वरीय शक्ति को, उसके प्रेम, उसकी करुणा और ज्ञान की ज्योति को हाथ में रखकर संसार में जीएँ। निश्चय ही औरों का तुम्हें सहयोग मिलेगा। अगर तुम एक कदम बढ़ाते हो तो सौ कदम अपने आप तुम्हारे साथ बढ़ आते हैं। उसकी करुणा अपार है। वह हजार राहें खोल देता है। कभी अगर एक राह बन्द हो जाए, तो क्या। दूसरी राह स्वतः खुल जाती है। एक हम हैं जो खुले दरवाजे की ओर नजर नहीं उठाते। बन्द राहों की ओर ही टकटकी लगाए बैठे रहते हैं।

इसलिए संसार में रहना गलत नहीं है। संसार के प्रति आसक्त हो जाना, संसार की मूर्च्छा को अपने में बसा लेना गलत है। संसार तो सदा से है। इससे बचकर जाओगे तो भी कहाँ। लेकिन तुम संसार का हिस्सा न बन जाओ, संसार तुम्हारा हिस्सा बन जाए, ध्यान यही कला हमें देता है। ध्यान हमें वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह बनाने का उपाय है। मैंने संन्यास और संसार में बहुत फर्क नहीं पाया है। फर्क तो मनुष्य के अपने मन में है। वही मकानों में रहना, वैसा ही भोजन करना, उसी तरह से लोगों से मिलना-जुलना, फिर भी कुछ ऐसा है जो ऊपर उठा देता है। ठीक वही स्थिति जैसी जल में कमल की होती है। संसार में रहते हुए भी संसार का पंक छू नहीं पाता। संसार ही नहीं, वह अपनी काया को भी देखता है। स्वयं से अलग कि जब चाहें तब छोड़ने की तैयारी। यह निर्लिप्तता है। केवल कर्तव्य का पालन होता जाए, यही अभिलाषा है। वही सदगृहस्थ है जो कर्तव्यपालन के भाव से ही कर्म करता है, यही उसका संन्यास है।

किसी सम्राट ने एक संत से अनुरोध किया कि प्रभु किसी दिन मेरे राजमहलों में आएँ और भोजन स्वीकार करें। संत ने कहा, सम्राट हम यहीं ठीक हैं। कन्दमूल, फल-फूल खा लेते हैं; प्रसन्न हैं। पर राजा निरंतर अनुरोध करता रहा, रोज आता और संत को राजमहल में आने का निमंत्रण देता। संत ने कहा, 'ठीक है हम कल आएँगे।' संत राजमहल में पहुँचकर भोजन स्वीकार करते हैं। थोड़ी देर राजमहल में ठहरते हैं। सम्राट उन्हें अपने महलों का निरीक्षण करवाता है। कुछ समय बाद संत महल से रवाना होते हैं। सम्राट भी यह सोचकर कि संत ने उनके महलों में आकर उन्हें उपकृत किया है। अतः वह भी साथ चलने की सोचने लगता है कि चलो थोड़ी दूर तक उन्हें छोड़ आता हूँ। लेकिन महल से बाहर निकलते ही उसने संत से पूछा, 'प्रभु, संन्यासी और गृहस्थ में क्या फर्क है। क्योंकि मैंने देखा आप कपड़े भी पहनते हैं, भोजन भी करते हैं, मैं भले ही महलों में रहता हूँ लेकिन आपकी भी एक कुटिया है। हाँ, इतना जरूर है कि मैं विवाहित हूँ और आपके पत्नी नहीं है। तब क्या केवल इतना-सा ही फर्क है।'।

संत मुस्कराए, कुछ बोले नहीं, सिर्फ चलते रहे, चलते रहे। इधर सम्राट के मन में अचरज हो रहा है कि संत कुछ बोलते ही नहीं कि अब वापस चले जाओ कि बहुत देर हो गई। एक तो प्रश्न का जवाब नहीं दिया, ऊपर से घर जाने के लिए भी नहीं कह रहे। उसे मन में एक पीड़ा, एक कसक सता रही है कि राजमहल पीछे छूटता जा रहा है। इतनी दूर चलकर आ गए। वह बार-बार पीछे मुड़कर देख रहा है कि अब तो राजमहल की चोटी की हल्की-सी झलक दिखाई दे रही है। अब तो उससे रहा न गया। संत से बोला, बहुत हो गया महाराज, अब मैं चलता हूँ। संत ने कहा, 'प्रेम से जाओ,

लेकिन जाने से पहले अपने प्रश्न का उत्तर तो लेते जाओ ।' सम्राट ने कहा, 'अवश्य ।' तब संत ने पूछा, 'तो तुम्हें जवाब मिल गया ?' 'आप तो कुछ बोले ही नहीं फिर जवाब कैसे मिल गया ।' सम्राट ने पूछा ।

संत ने कहा, 'संन्यस्त और गृहस्थ में इतना ही अंतर है कि मैं राजमहल में आया फिर भी राजमहल में नहीं था और तुम जंगल में आ गए हो फिर भी राजमहल में ही हो । संत जहाँ रहता है वहाँ रहकर भी वहाँ का नहीं होता और गृहस्थ जहाँ रहता है वहीं का हो जाता है । संत का मन स्थिर होता है और पाँव चलते हैं । गृहस्थ के पाँव रुँधे हुए रहते हैं, पर मन चलायमान रहता है ।'

जहाँ अल्पिप्त दशा आती है, वहीं मनुष्य के अंतःकरण में संन्यास घटित होता है । मनुष्य का मन मनुष्य के नियंत्रण में आ जाए, यही साधक की पहचान है । तब वह समष्टि का होकर, जीता है । मुक्ति होनी ही चाहिए सभी की । आप सभी मुक्त होकर जिँ, वह मुक्ति जो परम, श्रेष्ठ और शाश्वत है । स्वार्थ और संकीर्ण दृष्टि की चारदीवारी से बाहर आँ । सागर बहुत विशाल है । पंख फैलाओ, आकाश की ओर उड़ान भरो, तो पता चलेगा कि क्षितिज के पार क्या है— अनन्त का आकाश, अन्तहीन आकाश ।

आज, बस, इतना ही ।

नमस्कार ।



एक डुबकी अपने भीतर

मेरे प्रिय आत्मन्,

कुछ पुरानी घटना है : एक यात्री-जहाज सुदूर समुद्र में डूब गया । अधिकांश यात्री समुद्र में समा गए, लेकिन एक व्यक्ति जैसे-तैसे लकड़ी के पाट का सहारा ले, डूबते-उतराते तट से जा लगा । जिस तट पर वह पहुँचा, वह निर्जन, किंतु हरा-भरा टापू था । वह व्यक्ति उस निर्जनता में रहने को विवश हो गया । प्राकृतिक खाद्य भरपूर थे । घूमघामकर वह कन्दमूल इकट्ठे कर लेता और पेट भर लेता । उस निर्जन टापू में रहते हुए उसे वर्षों बीत गए । उसे इन्सानी दुनिया की याद भी आती, लेकिन वापस आने का कोई उपाय न था । इस दरम्यान उस आदमी की बहुत खोज की गई, क्योंकि शेष यात्रियों का या तो पता चल गया था या मृत देह मिल गई थी । केवल वही था जिसका अता-पता न था ।

दस वर्षों के बाद पुनः उसकी खोज की गई । एक हेलीकॉप्टर उस टापू पर मंडराने लगा और उसमें बैठे हुए लोगों ने देखा कि यह तो वही व्यक्ति है जिसकी खोज में वे भटक रहे थे । हेलीकॉप्टर नीचे उतरा, लोग बाहर आए । वे उसे ले जाने को उत्सुक हो गए । सौहार्दपूर्ण मिलन हुआ । बाहर की दुनिया के आए हुए लोगों को उस व्यक्ति ने फल व फलों का रस पेश किया । वे लोग नाश्ता कर ही रहे थे कि निर्जन टापू पर रहने वाले व्यक्ति की नजर एक अखबार पर पड़ी । यह अखबार वे अपने साथ लाए

थे जिन्होंने उस अकेले आदमी को खोज निकाला था ।

व्यक्ति ने अखबार उठाया, पढ़ा और चौंक गया । तारीख देखकर तो और चौंक गया, यह तो नया अखबार था । उसे तो इस निर्जन स्थान पर वर्षों बीत गए थे । जलपान के बाद उन मुसाफिरों ने कहा, अब चलें ? 'मैं जाने से इन्कार करता हूँ' उस व्यक्ति ने कहा । आगन्तुक चौंके । उन्होंने कहा, अरे, यह तुम क्या कहते हो । खोजते-खोजते इतने वर्षों बाद तुम्हें पाया है और तुम इन्कार कर रहे हो ! निर्जन स्थान पर रहने वाले उस मनुष्य ने जवाब दिया— 'मैं भी सोचता था, चलूँ तुम्हारे साथ, लेकिन तुम्हारे साथ यह जो अखबार है, इसे पढ़कर लगता है मैं यहीं ठीक हूँ । यहाँ मैं जिस सुख-शांति और आनन्द का मालिक हूँ, वह उस दुनिया में नहीं है जहाँ तुम मुझे ले जाना चाहते हो । यह अखबार पढ़कर लगता है वहाँ क्या कुछ हो चुका है । क्या तुम चाहते हो व्यभिचार से घिरी दुनिया के बीच जाऊँ ? क्या वैमनस्य से घिरे हुए समाज के बीच जाऊँ ? क्या मजहबों के बीच बंट गए धर्म में जाऊँ ? जहाँ भाई-भाई का खून अलग हो गया है, उस परिवार के बीच जाऊँ ? तुम मुझे कहाँ ले जाना चाहते हो ? मैं यहीं बेहतर हूँ । यहाँ केवल मैं हूँ और मेरा आनन्द है ।

उसने जाने से बिल्कुल इन्कार कर दिया । उसे शांति का द्वीप मिल चुका था । आनन्द का धाम मिल गया था । स्वयं में शांत निर्जन टापू की खोज ही मुक्ति की साधना है । जब तक ध्यान की कला नहीं आती, भीतर का शांत निर्जन टापू नहीं मिलता । इस निर्जन टापू के अभाव में व्यक्ति अपने अन्तर्मन में व्यभिचार, वैमनस्य और गलाघोट संघर्ष में जीने को मजबूर रहता है । जिन क्षणों में अपने ही अन्तःकरण के सागर में नौका डूब जाती है, नौका तो सभी की डूबती है, कोई-सा ही पार लगता है, किसी एक को शांत निर्जन टापू मिल पाता है । जिसे वह निर्जन टापू, शांति का द्वीप मिल जाता है, वही जीवन के उत्सव, जीवन की धन्यभागिता और कृतपुण्यता को उपलब्ध कर लेता है ।

ध्यान के मार्ग पर चलकर ही अन्तर्मन की शांति, मौन और आनन्द की प्राप्ति होती है । व्यक्ति का निर्जन, अन्तर-टापू में एकांत, मौन रहकर स्वयं में आत्मस्थ हो जाना ही स्वस्ति-मुक्ति का द्वार है, स्वर्ग का साम्राज्य है । बीती सदियों के महापुरुष, जिनके चरणों में हम नमन करते हैं, वे सभी ध्यान के द्वारा ही महापुरुषत्व को उपलब्ध हुए । फिर चाहे वे महावीर हों या बुद्ध, जीसस हों या सुकरात, मुहम्मद हों या नानक, सभी ने अपने अन्तर की निर्विचार शांति और सत्य को जिया । बुद्ध वर्षों तक जंगल में रहे । वहाँ उन्होंने क्या किया ? जब उन्हें बोधि प्राप्त हुई तब वे क्या कर रहे थे, उनमें क्या

हो रहा था ? महावीर ने प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद लगातार चौदह वर्षों तक क्या किया ? जीसस ने सूली पर लटकाए जाने के बाद क्षमा और करुणा के जो शब्द कहे थे, वे शब्द कहाँ से आए ? सत्य के लिए सुकरात ने विषपान किया — यह आत्मबल कहाँ से आया कि वे गरल-पान कर सके । साफ है उनमें योग का बल था, ध्यान और सत्य-बोध की गहराई थी । ध्यान जीवन में गहराई देता है और उसी गहराई से आत्मबल मुखरित होता है । सहिष्णुता और करुणा का उदय होता है । निश्चय ही इन सबको भी ध्यान आत्मसात हुआ । वे आत्मवान हुए, आत्म-ओज को उपलब्ध हुए ।

ध्यान रहे, आम ज्यों-ज्यों पकता है, डाल त्यों-त्यों नीचे झुकती है । जब कोई अपनी परिपूर्णता में खिलता है तो एक अलग ही सौम्यता, एक अलग ही सरलता, एक अलग ही करुणा से भर उठता है । सारा संसार उसकी करुणा का पात्र हो जाता है ।

ध्यान स्वयं की सौम्यता को ही उपलब्ध करने का उपक्रम है । यह शान्त मनस् की साधना है, ऊर्जस्वित चेतना को उपलब्ध होने की प्रक्रिया है । ध्यान का मार्ग किसने दिया, यह बात गौण है । ध्यान की ज्योति हमें कितनी ज्योतिर्मय कर सकती है, यह बात मुख्य है । ध्यान की विधियों में, धर्म के अलग-अलग रूपों में भिन्नता हो सकती है, लेकिन यह भेद ऐसा ही है जैसे कोई माटी का दिया हो और कोई स्वर्ण या रजत का । लेकिन उनकी ज्योति में कोई फर्क नहीं है । उनसे उठने वाला प्रकाश एक ही है । तुम्हें महावीर और बुद्ध या क्राइस्ट और मोहम्मद में फर्क नजर आ सकता है, लेकिन उनमें प्रज्वलित ज्योति एक ही है, अन्तर-आत्म में कोई अन्तर नहीं है । दीया कोई भी हो, क्राइस्ट का या मुहम्मद का, कृष्ण का या कबीर का, महावीर का या बुद्ध का, दियों में भेद हो सकता है, लेकिन दियों को प्राप्त ज्योति में कोई भेद नहीं होता । इन महामहिम लोगों ने, इन दिव्य पुत्रों ने मानवता को ध्यान का वह विज्ञान, प्रेम का वह मार्ग, जीने की वह कला दी है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने प्रकाशमयी 'जीवन' तत्त्व को उपलब्ध होता है । जिसके द्वारा मनुष्य पहचानता है कि वह कौन है, कहाँ से आया है, कहाँ जाएगा, उसके जीवन का मूल स्रोत क्या है ।

साधारणतः व्यक्ति ध्यान करता है, लेकिन फिर भी ध्यान से वंचित ही रह जाता है, उसे कभी स्वयं का ध्यान होता ही नहीं ।

ध्यान हमें हमारे आत्मवान् होने का बोध है । “मैं हूँ” इस शान्त-शून्य बोध का नाम ध्यान है । तुम आत्मा हो । आत्मा को न खोजना है, न पाना है; वरन जो है, उसमें स्थिति बनाये रखना है । समस्या आत्मदर्शन की नहीं है, समस्या ऊबड़-खाबड़, अशान्त

मन के शान्त होने की है। मन शान्त-सौम्य हो जाए, तो तुम सतत आत्मबोध में ही जीते हो। मन शान्त हो और चेतना ऊर्जस्वित, यही ध्यान का ध्येय है। मन का सरल-सौम्य होना ही ध्यान का परिणाम है। आगे के द्वार तो अपने-आप खुलते हैं। तुम ऐसे स्वर के स्वामी होते हो, जिसे ज्ञेन ने एक हाथ की ताली का स्वर कहा है, अरविंद ने दिव्य सत्ता का प्रकाश कहा है। तुम आनन्दमयी मौन को उपलब्ध होते हो। एक ऐसी समाधि को जहाँ मन का समाधान हुआ। इसके लिए उतरें हम वाणी, विचार, अनुभवों और संवेदनाओं की तहों में।

इन्सान जब तक बोलता रहता है, उसकी पहचान बनी रहती है। यदि वह मौन हो जाए तो हम भूल ही जाते हैं कि वह कौन है। इन्सान-इन्सान सभी एक जैसे। जिस प्रकार पशु एक जैसे होते हैं, सभी पक्षी एक ही प्रकार के, कौए-कौए हैं, कबूतर-कबूतर। ऐसे ही इन्सान भी एक जैसे। अगर कुछ बोले तो फर्क पता चले कि कौन कैसा है। मनुष्य की पहचान वाणी के द्वारा हो रही है कि तुम कुछ बोलो तो पता चले कि तुम्हारे विचार कैसे हैं। विचारों के आधार पर जान जाएँगे, पहचान पाएँगे कि तुम कौन हो। आज इन्सान की पहचान उसकी चेतना के द्वारा नहीं, बल्कि वाणी के द्वारा हो रही है। जबकि जीवन का विज्ञान यह बताता है कि वाणी का प्रयोग जीवन का बाह्य व्यवहार है। यह बहुत ही ऊपरी सतह का स्वर है। कोई व्यक्ति अच्छी से अच्छी चर्चा कर सकता है, सारी अच्छाइयों का पिटारा खोल सकता है, लेकिन इसका अर्थ यह न होगा कि वह आचरण में ही उतना ही अच्छा और स्वस्थ है। इसलिए वाणी के कारण व्यक्ति पर बहुत अधिक भरोसा मत करना।

महावीर ने तो चौदह वर्षों तक मौन रखा। फिर उनके तीर्थकरत्व की पहचान कैसे हुई होगी। लेकिन वे तीर्थकर हुए। न बोले होंगे, अवश्य ही नहीं बोले होंगे, बोलने की उन्हें कोई जरूरत ही नहीं थी। उन्हें तो पहचान ही उस तत्त्व की करनी थी, जो स्वयं बोल रहा है।

हम सभी पहले तल पर ही जी रहे हैं। बोलना, वाणी का व्यवहार प्रथम तल है। लेकिन हम केवल बोलते ही नहीं, बोलने के पहले एक घटना और घटती है, सोचने की, विचारने की। भले यह पता चले या न चले कि हम सोच रहे हैं या बोल रहे हैं, पर बोलने के पहले अवश्य ही हम सोचने की प्रक्रिया से गुजरते हैं। मुँह से शब्द उच्चारित होने के पूर्व यह कहीं और पहले ही आ जाता है। इसलिए वाणी तो बाह्य ऊपरी तल है। इसके भीतर तो सोचने का तल है।

हम क्या बोलते हैं इससे भी गहरी बात है हम क्या सोचते हैं। हर सोच-विचार को हम बाहर प्रगट नहीं करते। हम वही बाहर लाते हैं जो हमारे हित में होता है। दूसरों की नजर में हम 'भले' ही बने रहना चाहते हैं, चाहे अंदर कितना भी वैर-विरोध-वैमनस्य पल रहा हो। बाहर तो मधुरता ही बनाए रखने का प्रयास करते हैं। लेकिन ध्यान का संबंध हमारे कोरे वाणी-व्यवहार से नहीं है। वाणी-व्यवहार में हम लोक-लज्जावश, किसी की शालीनता रखने के लिए किसी का विनय-विवेक रखने के लिए अपनी बात नाप-तौल कर पेश करेंगे। पर सोचने के लिए हम स्वतंत्र हैं। मन-ही-मन हम किसी के लिए कुछ भी सोच सकते हैं और यह सभी जानते हैं कि दूसरे के लिए सकारात्मक और अच्छे विचार कम ही आते हैं। बुरे विचार ही अधिक आते हैं। तब अच्छे विचार तो बाहर आ जाते हैं और बुरे विचार अंदर ही जमे रह जाते हैं। ध्यान, विशेषकर संबोधि-ध्यान आपको अन्तर-स्वच्छता देता है। बाहर की शालीनता और सोचने का बेहतर ढंग देता है।

वाणी-व्यवहार और सोच-विचार से भी एक और गहरा तल है, जहाँ न विचार होता है, न शब्द होता है। वहाँ शब्द की निष्पत्ति के बीज होते हैं। वहाँ चिन्तन नहीं होता, सिर्फ दर्शन होता है। अगर तुम महावीर से भी पूछोगे तो वे भी यही कहेंगे कि यह सच है, क्योंकि ऐसा मैंने देखा है। महावीर के नाम पर जितने शास्त्रों की रचना हुई, उनका प्रारम्भ ही ऐसे होता है। 'सुयं मे आउसं—' सुना है मैंने आयुष्मन्। शिष्यों ने सुना, इसलिए उन्होंने अपने अन्तःकरण में देखा है। 'टेन कमान्डमेन्ट्स' के दस नियम भी देखे गए। इससे भी ताज्जुब की बात है कि जो कुरान की आयतों को पढ़ता है, वह जानता है कि मुहम्मद साहब कहते हैं कि मैंने कुरान की आयतों को देखा है। व्यक्ति के अन्तःकरण में एक ऐसी स्थिति रहती है जहाँ वह अपने विचार को देखता है, अपने शब्दों को और स्वयं को भी देखता है। क्रोध की तरंग, विकार की रेखा, प्रेम की किरण, सभी को देखता है। ज्ञानियों ने इस तीसरे स्तर को दर्शन की संज्ञा दी है। लेकिन मैंने इससे भी ऊपर की एक स्थिति देखी है जहाँ न बोलना होता है, न सुनना, न सोचना और न ही देखना होता है। यह वह परा स्थिति है जहाँ न दृष्टा है, न दृष्य है और न ही दृष्टि है। एक उन्मुक्त अवस्था शेष रहती है जिसे गीता जीवन-मुक्ति कहती है। जिसे हम कहते हैं—'देह रहे, पर देह से रहते देहातीत, उन ज्ञानी के चरण में वंदन हों अगणीत'-हम उस ज्ञानी के चरण में अपने प्रणमन्, अपने नमन समर्पित करते हैं जो उस परास्थिति को उपलब्ध है।

ध्यान का विज्ञान व्यक्ति को एक तल से दूसरे तल पर, फिर तीसरे तल तक

और अंत में चौथे तल तक पहुँचा देता है। बिल्कुल ऐसे ही जैसे किसी भूखंड को खोदते हैं तो पहले मिट्टी मिलती है, फिर पत्थर आते हैं, उसके बाद कीचड़, और गहरे खुदाई करते जाते हैं तो शीतल जल की रसधार फूट पड़ती है। ऐसे ही व्यक्ति के अन्तःकरण में गहराई की निर्मिति होती चली जाती है। मैंने प्रातःकाल कहा था उन्नत, उच्च मानसिक ऊर्जा के स्वामी बनो, उन्नत मस्तिष्क के मालिक बनो। पहले चरण में तो यही लगता है कि एक ही तो मस्तिष्क है, लेकिन जैसे-जैसे साधना की गहनता होती है, रहस्यों के द्वार खुलते हैं और परत-दर-परत उतरती जाती हैं। ज्यों-ज्यों अन्तस्का स्पर्श होता है, व्यक्ति मूर्छा से प्रज्ञा के प्रकाश में प्रविष्ट होता जाता है। अन्तःकरण के द्वारों के खुलने के साथ अन्तर्शक्तियों का स्वामित्व अनायास उपलब्ध हो जाता है।

मेरे देखे, जितना समय हम संसार के लिए देते हैं, उससे एक-चौथाई समय भी अगर अन्तर-शांति के लिए दिया जाये, तो व्यक्ति स्वयं की शांति का स्वामी बन सकता है। संसार आपके जीवन को पूर्ण कर पाया या नहीं यह संशय सदा, कहें कि आखिरी क्षण तक बना रहता है, लेकिन ध्यान आपको अवश्य ही पूर्णता प्रदान करेगा। अन्तर्मन की कोमलता देगा। संसार में आप खोने-पाने की बैलेन्स-शीट बनाते हैं, लाभ-हानि का ब्यौरा रखते हैं, लेकिन ध्यान में सिर्फ पाना है। खोना तो कुछ भी नहीं है। वहाँ हानि का तो प्रश्न ही नहीं है। खोना केवल अशांति को है, पर इसे हम खोना भी कैसे कहें। तुम शांति में उतरते हो, तो अशांति के उद्रेग स्वतः तिरोहित होते जाते हैं। जैसे सरोवर में उतरते, तो देह पर चढ़ा मैल तो अनायास ही उतर जाता है। तुम शांति में उतरते, अशांति अपने आप मैल की तरह छूटेंगी।

हम केवल शांत मन होने पर ध्यान दें। न बन्धन की चिन्ता करें, न मुक्ति की। मुक्ति को साधना नहीं है। मुक्ति तो हमारी चेतना का सहज स्वभाव है। चेतना तो मुक्त ही है। उलझन सारी मन की है, मन के संस्कारों की है, संस्कारों के सातत्य की है। जो इनसे उपरत है, वह मुक्त है। शान्त मन आत्मानंद में ही जीता है। उसकी बुद्धि स्वतः प्रखर रहती है। उसका हृदय सदा सहज सौम्य-कोमल रहता है। वह दिव्य लोक से आया पथिक होता है और दिव्य लोक की ओर लौट जाने वाला पथिक। वह केवल कुछ समय के लिए पृथ्वी-ग्रह पर रहता है। उसका न जन्म है, न मृत्यु।

प्रिय आत्मन् ! आओ, स्वयं से मुखातिब होएँ। प्रमोद करें। मौन के बोध से पुलकित हों। मौन का स्वर मुखर हो जाये। अन्तर-वीणा के तार झंकृत हो जायें, बीज में से फूल खिल जाये। कृपया थोड़ा-सा समय दीजिए, स्वयं के लिए, स्वयं के सत्य के

लिए, स्वयं के मनन के लिए, अपने अस्तित्व के चिंतन के लिए। आपके अंदर सुकरात जन्म ले सकता है, कोई महावीर उतर सकता है, कोई कृष्ण साकार हो सकता है। आपके अन्तःकरण के कारागार में कृष्ण जन्म ले सकता है और भीतर की बेड़ियों को तोड़ सकता है। हृदय में मीरा का नृत्य हो और मन में बुद्ध का मौन, बस आनन्दित जीवन का इतना ही सार है। इसके लिए हमें अन्तर-ध्यान में उतरना होगा। भीतर डूबकी लगानी होगी। बिना ध्यान और समझ के धर्म जीवित नहीं रह सकता। बिना ध्यान के धर्म कंधों पर ढोया जाने वाला लबादा मात्र है। ध्यान में रमण करो और गहराई को जिओ। जीवन चाहे कम हो या ज्यादा, लेकिन पूर्ण गहराई और प्राणवत्ता से जिओ। ध्यान में, ध्यान से जिओ।

ध्यान का अर्थ ही है स्वयं में जीना। ध्यान का पहला चरण ही है—बाहर से भीतर की ओर मुड़ो। भीतर में चलने वाले कोलाहल को शान्त करना—यह ध्यान का दूसरा चरण है। विधि कोई भी हो सकती है, ध्येय एक ही है। मार्ग भले ही अलग हों, पर मंजिल एक है। ध्यान का तीसरा और अंतिम चरण है—कोलाहल के शान्त होने के बाद प्राप्त होने वाले मौन और आनन्द में रमण करो। इन तीन चरणों में ही ध्यान का पूरा विज्ञान है, सम्पूर्ण मार्ग है। ध्यान का संबंध हमारे अपने साथ है, इसलिए ध्यान जीवन-सापेक्ष है। बाहर से भीतर की ओर मुड़ना, अन्तर्मुखी हो जाना ही प्रतिक्रमण है, भीतर के शोरगुल को समाप्त करना, अन्तर की शांति को पा जाना ही सामायिक है और इस शांति और मौन को जीना ही कैवल्य और समाधि है। अन्तरगुहा में ध्यान की गहराई आने पर आगे की रोशनी अपने आप मिलती जाती है। तमस के फंद कटते हैं, प्रकाश की किरणें अवतरित होती हैं। चट्टानें हटती हैं, निर्मल नीर मिलता है। दीया नीचे धरा रह जाता है, बाती ज्योतिर्मय हो उठती है।

कुछ प्रश्नों पर चर्चा कर लें।

- * पहला प्रश्न है : प्रभु, जब ध्यानावस्था में होते हैं, तीन-चार मिनट बाद ही अति सूक्ष्म गोल-गोल सा पुंज घूमता दिखाई देता है और कुछ समय बाद आँखों में अश्रु उमड़ आते हैं। क्या ध्यान में ऐसा होता है? अगर होता है तो क्या यह सही है? क्या मैं ध्यान में सफलता हासिल कर सकती हूँ। अगर नहीं होता तो सुधारने का प्रयास करना चाहती हूँ, मार्गदर्शन दें।

‘प्रभु ।’

प्रश्नकर्ता ने प्रारम्भ व अंत दोनों जगह प्रभु लिखा है । जहाँ प्रारम्भ भी प्रभु से हो और अंत भी प्रभु से, वहाँ प्रश्न मिट जाते हैं । वहाँ प्रश्न स्वतः तिरोहित हो जाता है । जहाँ प्रभु ही प्रारम्भ है और प्रभु ही समापन, वहाँ मध्य में भी प्रभु ही विराजित है । प्रभु को अगर अंत में रख दिया या दरकिनार कर दिया तो प्रभु किनारे चला गया और तुम्हारा अहंकार ऊपर उठ गया । प्रभु का संबोधन, उद्बोधन इसलिए ताकि हमारे भीतर अहंकार की ग्रंथि का निर्माण ही न हो । हम सब एक हो जाएं । पूछा है—तीन चार मिनट बाद गोल पुंज सा घूमता दिखाई देता है । भले ही यह हमारा ध्यान में प्रवेश हो, लेकिन कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनका परीक्षा में प्रवेश पाना ही सफल हो जाना होता है । जिन्हें ध्यान साधना है, अगर अभीप्सा गहरी हो तो शीघ्र ही सध जाता है और कुछ जो ऊपरी प्रयास ही करते हैं, वे दीर्घ साधना के पश्चात् भी ध्यान की गहराई में प्रवेश नहीं कर पाते ।

अक्सर ऐसा हो जाता है कि बच्चों को समझ में आ जाता है कि क्रोध करना ठीक नहीं है और वह क्रोध नहीं करता, लेकिन दादाजी लम्बी उम्र गुजारने के बाद भी क्रोधित हो उठते हैं । बात केवल सधने की है । बच्चे को भी कोई साधना सध जाती है और न सधे तो जीवन व्यतीत हो जाता है और तुम खाली के खाली रह जाते हो । और अश्रु तो तुम्हें निर्भार बना देते हैं । तुम्हारे अन्तस् का प्रायश्चित्त ही अश्रु रूप में उमड़ता है । मन की मलिनता बाहर निकल रही है । बेहतर होगा इन आँसुओं के साथ भीतर के कल्मष को निकल जाने दो । और फिर जो बात जिह्वा नहीं कह पाती, वह अश्रु कह जाते हैं, हृदय बोल जाता है । इसलिए आँखें झरती हैं, झरने दो । ध्यान में अगर हृदय नहीं उमड़ा, खुमारी न आई, तो ध्यान अधूरा ही रह गया । हृदय ने हिलोरें न लीं, तो एक घंटा बैठक हो गई, ध्यान भी हो गया, पर अहोभाव न उमड़ा ।

जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा, भगवन् हम किसके प्रकाश में जिएँ ? याज्ञवल्क्य ने कहा सूरज के प्रकाश में जिओ । जनक ने पूछा अगर सूरज न निकला हो तो किसके प्रकाश में जिएँ ? उत्तर मिला चन्द्रमा के प्रकाश में । और अगर अमावस की रात हो चाँद भी न निकला हो तो किसके प्रकाश में जिएँ ? कहा कि दीपक के प्रकाश में । फिर पूछा कहीं दीपक का भी साधन न हो तो ? तो शास्त्र के शब्दों के प्रकाश में, गुरु के मार्गदर्शन में जिओ । जनक ने पूछा अगर वह भी उपलब्ध न हो तो ? याज्ञवल्क्य ने कहा, ‘तब स्वयं की आत्मा की ज्योति में जिओ ।’

जब व्यक्ति स्वयं के प्रकाश में जीने लगता है तब उसके लिए इन रंगों का अर्थ है। देते हैं। ये रंग उसे उसकी लेश्याओं से परिचित कराते हैं। जो भी रंग आप देखते हैं, वह आपके ही स्वभाव के परिचायक हैं, आपका अपना प्रतिबिम्ब है। हर रंग आपके चित्त की स्थिति बयान करता है। इसलिए अपनी स्थिरता, अपनी एकाग्रता, अपनी सजगता को गहराई दें, बढ़ाएँ। प्रकाश सूक्ष्म होता जाएगा और अन्त में मूल प्रकाश से परिचय होगा।

स्वयं में प्रकाश का पुंज नजर आना, अपने आप में शुभ संकेत है। कृपया अपने इस प्रकाश का उपयोग करो। अपने सम्पूर्ण मस्तिष्क में प्रकाश-कणों को फैल जाने दो। स्वयं में समायी पाशविकता और अहंकार युक्त चेतना में इस दिव्यत्व को उतरने दो। स्वयं के भौतिक मन में आत्मिक प्रकाश को फैल जाने दो। देह में स्वतः दिव्यता आयेगी। काया कंचन होगी। जीवन का कायाकल्प होगा।

आँसू आये, तो रोको मत। न आये, तो उसकी चेष्टा भी मत करो। सहज में जो हो जाये, उसका स्वागत है। हर स्थिति का स्वागत है। अहोभाव से उसका भी आनन्द लो।

पूछती हो कि क्या मैं ध्यान में सफल हो सकती हूँ? बेहतर होगा इस प्रश्न को दिमाग से निकाल ही फेंको। जहाँ अभीप्सा है और अन्तर-तल्लीनता, वहाँ ध्यान सफल ही है। भीतर जागो और जिओ, इतना ही ध्यान है। तुम्हारा ध्यान सफल होगा। सफलता को तुम्हारी आवश्यकता है।

* ओम् का नाभि तक न पहुँचने का क्या कारण है ?

महत्वपूर्ण यह है कि 'आप' कहाँ तक पहुँचते हैं। कभी आपने गौर किया है कि आपकी श्वास कहाँ तक पहुँच रही है। आपकी श्वास ही नाभि तक नहीं पहुँच पाती। आपकी श्वास सिर्फ फेफड़ों तक, सीने तक ही सीमित रह जाती है। आप ऊपर-ऊपर के हिस्से में ही श्वास पहुँचाते हैं। आपने शिशुओं को देखा है, उनका पेट कैसे श्वास के आने-जाने के साथ ऊपर-नीचे होता है। और स्वयं को देखो पेट तक साँस पहुँच ही नहीं पाती। हाँ, जब तुम सो जाते हो तब श्वास पेट-नाभि तक पहुँच पाती है। क्योंकि तब तुम्हारा शरीर प्रकृति से संचालित होने लगता है। तुमने जापानी बौद्ध प्रतिमाएँ देखी होंगी। कैसा विशाल पेट बनाते हैं भगवान बुद्ध का। इसका एकमात्र

कारण है भरपूर श्वास का परिचालन । विपश्यना के लिए पूर्ण श्वास-प्रश्वास । श्वास में गहराई और श्वास के प्रति सजगता लाएँ तब ओम् नाभि तक स्वतः पहुँचेगा ।

ॐ को केवल नाभिस्थल तक ही न पहुँचाएँ, वरन् सम्पूर्ण देहाकृति तक अपनी प्राणधारा के साथ विस्तृत हो लेने दें । देह के रोम-रोम से ओम् का विस्तार हो । ॐ को विराट् होने दें, ओम् के साथ ही स्वयं भी विराट् हो जाएँ । ॐ के साथ ही समष्टि में समाविष्ट हो जाएँ ।

* ध्यान की गहराई में पहुँचने के लिए शरीर-विज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है ?

मेरा सुझाव है कि प्रत्येक को शरीर-विज्ञान का ज्ञान होना चाहिए । शरीर चाहे नश्वर है, लेकिन जीवन का साकार रूप यह शरीर ही है । हम संसार में शरीर के साथ ही संपर्क बनाते हैं । इसलिए अगर देह से देहातीत होना है, तो पहले देह को समझना होगा । मेरा मानना है जब तक हम देह के विज्ञान को नहीं समझ पाते, देह से ऊपर नहीं उठ पाएँगे । हम देह की संरचना को समझें और देखें कि अंत में इसका क्या हश्र होता है । जब किसी शव को देखें तो स्मरण रखें कि एक दिन हमारे शरीर की भी यही परिणति होनी है । स्वयं का निरंतर स्मरण आपको ध्यान की गहराई में ले जाएगा । तब आप मृत्यु से भयभीत नहीं होंगे । साधना में घटित समाधि मृत्यु के रहस्य का साक्षात्कार कराएगी ।

संबोधि-ध्यान में हम देह को भीतर से देखते हैं और देखते हैं भीतर बनी हुई ग्रन्थियों को । ध्यान मनोविकारों की ग्रन्थियों को स्थिर कर काटने की चेष्टा करता है । संबोधि का अर्थ ही है सम्यक् बोध, सम्यक् समझ, वह ज्ञान-दृष्टि, जिसकी निष्पत्ति सम्यक् दर्शन के द्वारा होती है । ज्ञान तो मनुष्य को बहुत है, पर बोध किंचित भी नहीं । सिगरेट न पीने का ज्ञान तो है, पर बोध नहीं । क्रोध न करने का ज्ञान है पर बोध नहीं । फर्क क्या हुआ ? सिगरेट के पैकेट पर चेतावनी को पढ़ लेना ज्ञान है और उस पर अमल करना बोध अर्थात् यह समझ आ जाए कि सिगरेट शरीर के लिए नुकसानदेह है यह बोध है । और जब यह बोध सम्यक् हो जाता है अर्थात् जान लेने के पश्चात् उसी पर दृढ़ रहता है, विचलित नहीं होता तब यह है संबोधि ।

हमें जन्म, जीवन और मृत्यु—देह से जुड़े इन तीनों पहलुओं को समझने की चेष्टा करनी चाहिए । देह को केवल त्वचा की दृष्टि से नहीं, वरन् उसके स्थूल और सूक्ष्म

अन्तरंग को भी जानना चाहिये । देह के स्थूल अन्तरंग को जानने के लिए किसी मेडिकल कॉलेज जाएँ और वहाँ जाकर शरीर की सारी बायोलोजी को प्रेक्टिकल जाने, देखें । अगर आत्म-दृष्टि पूर्वक यह तटस्थ निरीक्षण किया जाये तो देह के प्रति एक अद्भुत अनासक्ति आयेगी । ऐसा मैंने पाया है ।

* वातावरण और स्थान का प्रभाव पड़ता है । अतः हमेशा शहर के कोलाहल से दूर ध्यान का अभ्यास करावें तो कैसा रहे ? क्या वह अधिक शांतिवर्धक नहीं रहेगा ?

जब तक ध्यान की गहराई प्राप्त न हो हिमालय की गुफा और बाजार का अन्तर रहेगा । ध्यान की ऊष्मा आने पर बाजार क्या और हिमालय क्या ! बाजार में ही हिमालय उतर जाएगा । जब ध्यान उतर रहा हो तो शहर क्या और जंगल क्या । तब तो जंगल में भी शहर होगा और शहर में जंगल । वातावरण और स्थान का प्रभाव पड़ता है, लेकिन ऐसे स्थान उपलब्ध नहीं होते जहाँ केवल ध्यान-मंदिर ही हो, केवल ध्यान योग ही किया जा सके ।

संबोधि-धाम को इसीलिए मूर्त रूप दिया जा रहा है, जहाँ कि शान्त-सौम्य-शीतल वातावरण में ध्यान को जिया जा सके । जब तक ऐसा न हो, हमें ऐसे ही किसी स्थान का उपयोग करते रहना पड़ेगा । अन्तर-शांति की पहचान के लिए वातावरण का शान्त, सौम्य होना अवश्य ही लाभदायक है ।

फिर एक बात अनुरोध कर दूँ कि माना, मेरे पास तुम नीरव वातावरण में ध्यान लगा लो, पर यहाँ से वापस तुम घर लौटोगे । वहाँ के वातावरण में, कुछ तो वह होता है, जो तुम्हें ध्यान में बाधक लगे । कोलाहल तो बाहर भी है और भीतर भी । भीतर के कोलाहल को सुनने-समझने के लिए बाहर के वातावरण का शांत-सौम्य होना जरूरी है, पर जिस दिन तुम्हें अपने भीतर के कोलाहल की पहचान हो जाएगी, तुम्हें लगेगा भीतर कहीं ज्यादा शोरगुल है ।

तुम अपने ध्यान को हर वातावरण में जीने की कोशिश करो । शान्ति में भी, शोर में भी । तुम शोर में भी अपने भीतर की शांति को बरकरार रख सको, यही श्रेष्ठ है ।

व्यग्रता क्या है और वह कैसे मिटे ?

समग्रता के अभाव का नाम ही व्यग्रता है। व्यक्ति किसी बिन्दु या वस्तु के संबंध में समग्रता से नहीं सोचता। उसके सोच में संतुलन नहीं होता। इसीलिए व्यग्रता आती है। इसे ऐसे समझें। आप थके-क्लांत से घर पहुँचते हैं और पत्नी दरवाजे पर ही आपकी माँ की आपसे शिकायत करने लगती है और आप बिना माँ की बात सुने ही उन्हें अंट-संट कहने लगते हैं यह व्यग्रता है। हाँ, अगर आपने पत्नी की बात के साथ माँ का पक्ष भी जाना होता, उनकी बात उतनी ही सहानुभूति के साथ सुनी होती तो आप समुचित संतुलन के साथ अपनी बात कह पाते। व्यग्रता वहीं आती है जहाँ व्यक्ति अपने सोचने के साथ या निर्णय से पहले पूर्वापर संबंध नहीं जोड़ पाता। व्यग्रता तभी झलकती है जब आक्रोश में आकर व्यक्ति निर्णय ले लेता है।

व्यग्रता अन्तर्मन का दैत्य है और समग्रता जीवन का देव। हम व्यग्रता के दैत्य से मुक्त हों। व्यग्रता घातक है, अपने लिए और औरों के लिए। व्यग्रता से मुक्त होने के लिए सदा समग्रता की दृष्टि रखें। निर्णय से पूर्व हर बात का पहला-पीछा पहलू सोच लें। विचारों और सोच को सदा संतुलित रखें। तीसरा सुझाव यह है कि सदा माधुर्य और मुस्कान से भरे रहें। व्यग्रता स्वतः समग्रता में बदलती जाएगी।

ध्यान के लिए क्या निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिये या जो सहजता में हो जाए वह उचित है। कृपया बतायें ध्यान विश्राम है या प्रगति, क्योंकि विश्राम अनायास/सहजतया होता है और प्रगति के लिए परिश्रम करना पड़ता है।

जीवन का कोई भी पहलू क्यों न हो, वह जितना सहजता से सम्पादित हो सके, उतना ही श्रेष्ठ है। पहलू चाहे ध्यान का हो या ज्ञान का, व्यवसाय का हो या भोजन बनाने का। हर पहलू के साथ सहजता जरूरी है। पर सहजता आती है परिणाम के तौर पर। प्रारम्भ में तो किसी भी चीज को आत्मसात् करने के लिए श्रम भी करना पड़ता है और अभ्यास भी। पहले चरण में अभ्यास किया जाता है लेकिन अभ्यास का परिणाम निकल आने पर वह मार्ग बहुत सहज हो जाता है। सहजता की डगर पर कदम रखते ही तो श्रम और अभ्यास व्यर्थ लगता है, लेकिन अभ्यास से गुजरे बगैर सहजता आती ही नहीं है। एम.ए. पढ़ चुके व्यक्ति के लिए बारहखड़ी बहुत सामान्य चीज हो जाती है, पर सवाल यह है कि बारहखड़ी को सीखे बगैर क्या कोई एम.ए. या एम.फिल. तक पहुँच

पाएगा ?

ध्यान निश्चय ही बहुत सहजता से घटित होता है। यह घटाने से नहीं, अनायास ही घटित होता है। ध्यान एक आकस्मिक घटना है। घटना होता है तो दो पल में घटित हो जाता है। ध्यान का गुरु हाथ न लगे तो वर्षों तक ध्यान से गुजरने के बावजूद अपने वास्तविक परिणाम नहीं दे पाता है। पर ध्यान घटित होगा कैसे आखिर उसी को न जो ध्यान के मार्ग पर चल रहा है, ध्यान को जी रहा है। आखिर, बादल अपना जल उसी गागर में उतार सकेगा जिसका मुँह उसकी ओर खुला होगा।

मैं ध्यान मार्ग को बहुत सहजता से जीता हूँ और अपनी ओर से आप सबको भी इसे सहजता से जीने का अनुरोध कर रहा हूँ। जैसे पिशाब करना, भोजन करना, नींद लेना, आमोद-प्रमोद करना सहज क्रिया है, ऐसे ही ध्यान को भी हमें बड़ी सहजता के साथ अपने से जोड़ लेना चाहिये। मान लो अगर हम अपने शारीरिक, मानसिक या पारिवारिक कारणों से जीवन के साथ सहज नहीं भी हैं तब भी आप ध्यान में डुबकी लगाने से वंचित न रहें। ध्यान के मानसरोवर में लगायी गयी एक डुबकी आपकी असहजता को मिटा देगी और आप जीवन के प्रति फिर से बहुत सहज हो उठेंगे। एक ऐसी सहजता कि जिसमें अमृत का आस्वादन हो, प्रसन्नता का पुष्प हो, आनन्द की फुलवारी हो।

ध्यान विश्राम है, अपने-आप में विश्राम। ध्यानी को प्रगति की पिपासा नहीं होती। जिसे प्रगति की महत्वाकांक्षा होती है, वह ध्यानी नहीं होता। प्रगति तो अपने आप होती है। प्रगति के द्वार अपने-आप खुलते हैं। ध्यान स्वयं में विश्राम है, अपनी उच्च क्षमताओं के साथ अपना सम्बन्ध है। मेरे देखे, जब भी तुम ध्यान की तन्मयता से जगत की ओर आँख खोलोगे, तुम्हारे हृदय को सुकून मिलेगा, तुम्हें अपने सामने प्रगति के क्षितिज उघड़ते हुए नजर आएंगे।

- * प्राचीन युग में तो आत्म-साधना के लिए लोग कन्दराओं में, एकाकी बैठकर ध्यान किया करते थे। अब शिविरों में सामूहिक ध्यान के प्रयोग करवाए जा रहे हैं। ध्यान सामूहिक होना चाहिए या व्यक्तिगत ?

ध्यान मनुष्य के मन और उसकी चेतना का चिरन्तन समाधान है। ध्यान को मैं अतीत में हो चुके महान् लोगों के द्वारा इजाद किये गये मनोविज्ञान का बेहतरीन

परिणाम मानता हूँ। ध्यान को तब भी व्यक्तिगत रूप में जीया जाता था और आज भी। जैसे आज ध्यान को सामूहिक रूप में जीया जाता है, ऐसा ही अतीत में भी होता रहा है। मनुष्य की मानसिक मेधा और क्षमता को बढ़ाने के लिए प्रतिदिन सुबह और शाम गुरुकुलों और विद्यापीठों में ध्यान करवाया जाता था। माना कि महावीर या बुद्ध जैसे लोगों ने एकांत में बैठकर ध्यान धरा था, लेकिन भगवान के शिष्य उनके सान्निध्य में भी ध्यान को सामूहिक रूप से जीते थे।

ध्यान का प्रयोग सामूहिक रूप से किये जाने के बावजूद मैं इस बात का हामी हूँ कि ध्यान निजी प्रयोग है, अपने-आपके साथ प्रयोग है, अपने आपमें उतरने का प्रयोग है। समूह में ध्यान का प्रयोग इसलिए करते हैं ताकि एक तो एक दूसरे का आभामंडल हमें परस्पर तरंगित और ऊर्जस्वित करे; दूसरा अपने पड़ौस में आसीन दूसरे साधक को आगे बढ़ता देखकर हमें भी प्रेरणा मिले।

जहाँ समूह में ध्यान होता है, वहाँ वह स्थान अपने-आप ही चैतन्य हो उठता है। यह एक पारम्परिक मान्यता है कि जो मंदिर सौ वर्षों से पूजा जा रहा है वह अपने आप में ही तीर्थ बन जाता है। हम जरा यह समझने की कोशिश करें कि जिस कक्ष या जमीन पर सौ लोग एक साथ ध्यान करते हैं और निरन्तर सौ दिनों तक करते हैं तो क्या वह स्थान उन साधकों की साधना से चार्ज नहीं होगा! जहाँ साधक लोग बैठकर साधना करते हैं, उस स्थान की माटी अगर शीश पर चढ़ाई जाये तो मैं बड़े प्रेम से कहना चाहूँगा कि ऐसा करना किसी मंदिर में जाकर चंदन या केशर का तिलक लगाने से कम पुण्यकारी नहीं होगा। मैं तो कहूँगा उस साधना-कक्ष की माटी को अपने शीष पर चढ़ाने वाले का बिगड़ा भाग्य सुधर जाएगा। तुम्हारे विपरीत ग्रह-गोचर भी अनुकूल हो जाएँगे।

हम समूह में भी ध्यान करें और एकान्त में भी। आखिर एकान्त में ध्यान धरने वाले को भी समूह में ही रहना-बैठना-जीना होता है। अतः क्यों न हम दोनों ही स्थितियों में ध्यान को सहज रखें, सहज बनायें। अगर तुम समूह में भी ध्यान करोगे तो इस बात को ध्यान रखो कि आखिर तुम्हारी ध्यान की बैठक व्यक्तिगत ही हो रही है। तुम भला किसी और में थोड़े ही उतर रहे हो। तुम तो अपने आप में उतर रहे हो। अपने-आपमें उतरना तो हमेशा व्यक्तिगत ही होता है, फिर चाहे तुम समूह में ही क्यों न बैठे हो।

ध्यान में तो केवल तुम होते हो। वहाँ किसी और को अपने साथ ले जाया नहीं जा सकेगा। अगर कोई साथ है तो उसको भी हमें बाहर ही छोड़ना होगा। किसी घर में जाते हो तो अपनी पत्नी को, बच्चों को, माँ-बाप या यार-दोस्तों को साथ ले जा

सकते हो, पर अपने में जाना हो तो कोई साथ काम न देगा। अगर भीतर में इनका साथ है भी तो वह तुम्हारे मूर्च्छा का ही अंश कहलायेगा। तुम्हें अपने आपको इनसे विलग करना होगा। ध्यान के लिए तुम्हारे अन्तरमन को इन रागात्मक अनुबन्धों से विनिर्मुक्त करना होगा।

तुम अपने में ध्यान को साधो और फिर समाज की ओर कदम बढ़ाओ। समाज तुम्हारे लिए ध्यान की कसौटी बन जाएगा। तुम भीड़ में रहकर भी, भीड़ से गुजरकर भी कितने अपने-आप में रह सके यह तो तुम्हें बाद में ही पता चलेगा। भीड़ में रहकर भी यदि तुम अपने एकत्व-बोध को सुरक्षित रख सके, तो साधुवाद ! तुम ध्यान-सिद्ध हुए। वही असली ध्यान-साधक है, जो कोलाहल के वातावरण में जाकर भी, अपने चित्त को अशान्त नहीं होने देता, जो हर हाल में अपनी शान्ति को बनाये रखता है, शान्त मन का स्वामी रहता है।

ध्यान शान्ति के लिए है और शान्ति जीवन के लिए। तुम हर हाल अपनी शान्ति को बनाये रखो, स्थिति चाहे जैसी हो, कसौटी चाहे जैसी हो। तुम एकान्त या समूह की बात को अहमियत देने की बजाय ध्यान में उतरो, ध्यान को जिओ। ध्यान तुम्हें जरूर सुकून देगा, तुम्हारे लिए नये द्वार-दरवाजे खोलेगा—रहस्य के, मुक्ति के, प्रगति के।

आज के लिए इतना ही।

नमस्कार।



मन को मिले सार्थक दिशा

मेरे प्रिय आत्मन्,

देख रहा हूँ मैं अपने मन को और आपके मन को भी । देख रहा हूँ अपने मन की स्थिति और उसके भाव-मौन को । साथ ही देख रहा हूँ अपने मन की स्थिति और उसकी अन्तर्दशा को, अपनी अन्तर्शक्ति और आपकी अन्तर्शक्ति को । मन बाधा भी है और मददगार भी । मन मनुष्य की कमजोरी भी है और उसके अन्दर निहित अन्तर्शक्ति भी, और जीवन का वैशिष्ट्य भी । मन के पथ पर जाकर जो रास्ते और पगडंडियाँ मिलती हैं, उनके क्षितिज संसार की ओर खुलते हैं । लेकिन जब अन्तर्शक्ति की राहों को खुलते हुए पाता हूँ तो व्यक्ति का अस्तित्व और ईश्वरत्व ही दिखाई देता है ।

मनुष्य में निहित जीवन-शक्ति का नाम ही ईश्वर है । व्यक्ति चाहे जिस स्थिति में रहे, अपने ईश्वर से वंचित नहीं रह सकता । सदियों से और जन्मों-जन्मों से उसका ईश्वर उसके साथ रहा है । ब्रह्माण्ड का हर अणु उसकी आभा से दीप्त है । ईश्वर बाहर नहीं, हर तत्त्व में निहित उसकी प्राणवत्ता है । ईश्वर सर्वत्र है, सबमें निहित है । सारा अस्तित्व ईश्वरमय है । पराशक्ति-सम्पन्न है । मनुष्य इसलिए क्लान्त, हीन और दुःखी है, क्योंकि वह निज में निहित उस आत्मशक्ति और पराशक्ति को नजर अन्दाज कर रहा है । वह अपनी अन्तर्शक्ति और अपने आत्म-ईश्वरत्व से विच्छिन्न हुआ है । इसी का परिणाम है कि उसके जीवन में मानसिक संत्रास और व्यावहारिक तनाव व्याप्त

हुआ है ।

धर्म और ध्यान इन्सान को भीतर की यात्रा और भीतर का वह जगत प्रदान करता है, जहाँ पहुँचकर या वहाँ रहकर उसका जीवन प्रकृति और परमात्मा का पुरस्कार बन जाता है । हमारी स्वयं से पहचान खंडित हुई है, स्वयं से संबंध विच्छिन्न हुआ है । जिनके बीच हम रह रहे हैं, वहाँ की मानवता भी खंडित हुई है । मानवता का संप्रदायीकरण और जातिकरण हो गया है । ब्राह्मण और शूद्र में मानव-जाति बंट गई है । मजहब के नाम पर विखंडन हुआ है, परमात्मा का विभाजन हुआ है । मनुष्य के नाम पर मनुष्यता ही एक नहीं है, तो एक परमात्मा कहाँ से होगा । अब तो उसके पास जीवन के वास्तविक वैभव को उपलब्ध करने के लिए, जीवन के स्थायी आनन्द को पाने के लिए न रास्ते बचे हैं, न पगडंडी । उसे कोई रास्ता नहीं सूझ रहा । वह जी रहा है, बिना दिशा का जीवन जी रहा है ।

यदि मनुष्य ने धर्म को अपनाया भी तो वह ज्ञान और विज्ञान-सापेक्ष नहीं हुआ, अन्तरदृष्टि और जीवन-सापेक्ष नहीं हुआ । उसका धर्म महज क्रिया-सापेक्ष हो गया । धर्म के क्रिया-सापेक्ष हो जाने से मनुष्य अपने मूल उद्देश्य से भटक गया । वह मन की बीमारियों को न जान पाया, जो जीवन में दुख और तनाव का कारण बनती हैं । धर्म और धर्मशास्त्र कहते हैं काम छोड़ो, राग छोड़ो, क्रोध छोड़ो, मोह छोड़ो । मनोविज्ञान भी आवेग और उत्तेजना छोड़ने की सलाह देता है । जीवन का विज्ञान भी शरीर की दूषित ग्रंथियों के प्रति निरर्थक होने की प्रेरणा देता है । यह सब कहना अत्यंत सरल है, पर व्यवहार में देखते हैं तो पाते हैं कि शायद ही कोई इसे छोड़ पाया हो । प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले हजारों सत्संग शायद ही किसी को सच्ची राह प्रदान कर पाते हों । दो घंटे के लिए मरघटी वैराग्य, क्षणभंगुर चिंतन की स्थिति बनती है । वापस, वैसे ही हो जाते हैं, जैसे थे । मक्का-मदीना से न लौटे, तब तक तो हाजी होने का बोध रहा, फिर वैसे ही, जैसा पाजी पहले था । ओह, मनुष्य स्वयं से वंचित हो गया । हम व्रत और नियम लेकर कुछ दिनों तक ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं, लेकिन उससे ब्रह्मचारी नहीं हो पाएँगे, क्योंकि मन की चंचलता और कलुषता तो समाप्त नहीं हुई । हमारी जो मूल बीमारी है, उसकी जड़ों तक नहीं पहुँचेंगे, तो ये व्रत-नियम जीवन भर लेते रहेंगे, पर न तो चित्त में निर्मलता घटित होगी, न ही अंतर्-आत्मा का आनन्द और जीवन का सुख-सौख्य मिलेगा और न चेतना महाचेतना की ओर बढ़ पाएगी ।

जब भी मनुष्य ने काया को देखा, उसे लहू और मांस ही दिखाई दिया । शायद

ही कभी किसी को भीतर का मंदिर, उसमें से उठती सुगंधित बयार नजर आई हो । मनुष्य को शायद ही भीतर से आने वाली अजान की आवाज या कोई आयत सुनाई दी हो । ओह, धर्म खूब किया, पर ध्यान हाथ में न आया । मंदिर भी गए, पर परमात्मा से भेंट न हुई । जब भी मन ने भगवान को चाहा, वह बाहर ही ढूँढने गया, बाहर ही परमात्मा के दर्शन किए । एक बात तय है कि उच्छृंखल मन के कोई भी रास्ते ईश्वर तक नहीं जाते । मन के रास्ते तो संसार के प्रपंच की ओर ही ले जाते हैं । मन ही तो हमें संसार की उधेड़बुन देता है । मन ही तो मनुष्य की समस्या है । कुदरत ने जीवन तो वरदान के रूप में दिया है । आँख हो तो रात के अंधेरे में भी सूरज दिखाई देता है, अन्यथा सूरज तो रोज-ब-रोज निकलता है और हर साँझ यतीम हो जाता है । अगर मन में सूरज के प्रति भक्ति होगी, तो प्रणाम भी कर लोंगे और फिर उसके तेज और धूप से बचने की कोशिश करोगे । सारा खेल आँख और मन का है ।

मैं रात को आकाश में टिमटिमाते हुए तारों को देखता हूँ, देखता ही चला जाता हूँ, एकाग्रचित्त । और पाता हूँ कि एक ही तारा रह गया और धीरे-धीरे वह भी लुप्त हो जाता है, सिर्फ रोशनी ही रह जाती है । और यह रोशनी जो मद्धिम तारे से आई थी, बढ़ते-बढ़ते सूरज बन जाती है । सूर्य केवल नमन के लिए नहीं है, वह तो हमारे घर-आंगन में उतारने के लिए है । सूर्य तो हमारे अन्तर-जगत की उर्वरा धरती पर लाने के लिए है, जहाँ अन्तर-शक्ति का बीज सुषुप्त है । वह अंकुरित होने को आकुल है, फूल खिलने को आतुर है ।

कहते हैं : आदि शक्ति ने संसार का सृजन किया । उसने देवताओं की उत्पत्ति की और धरती पर भेजकर कहा कि जहाँ तुम्हें आनन्द हो, वहाँ निवास करो । देवताओं ने पूरी धरती का भ्रमण किया, लेकिन रहने के लिए उपयुक्त स्थान न मिला । देवता आदि शक्ति के पास पहुँचे और कहा कि धरती पर हमें बेहतर समुचित जगह नहीं मिली । यह देख आदिशक्ति ने जमीन के इंसान की ओर इशारा करके कहा कि देखो उस इंसान को और उसके भीतर अपनी जगह बनाओ । देवता वापस धरा पर आए और मनुष्य में अन्तर्निहित हो गए । सूर्य उतरा और मनुष्य की आँखों को उसने अपना निवास बनाया । वायु देवता ने मनुष्य की साँसों में, उसके प्राणों में अपना घर बनाया । बृहस्पति ने मानव के मस्तिष्क को अपने उपयुक्त पाया । अग्नि ने मनुष्य के नाभि-प्रदेश से लेकर मुख तक अपना डेरा जमाया । चन्द्रमा ने अपनी शीतलता के मुताबिक मनुष्य के हृदय को अपना मंदिर बना लिया ।

आदिशक्ति की आज्ञा से इतने सारे देवों ने मनुष्य को अपना लिया । शैतान, जो अपने लिए जगह ढूँढ रहा था, इतने देवों को मनुष्य में प्रवेश करते देख, चुपके से उसने भी मनुष्य में प्रवेश कर लिया । वह मन के अचेतन गर्त में छिप गया । और देव तो आनन्दमग्न हो गये, पर शैतान तृप्त न हो सका, सो वह अभी तक भटक रहा है, उछल-कूद कर रहा है । कभी स्त्री में, कभी जमीन में, कभी धन में आसक्ति का सौन्दर्य ढूँढ रहा है । मनुष्य को देखो तो सही, उसे केवल स्त्री ही दिखाई देती है । उसी में रस लिया । उसी के रस को रस माना । जब भी उसने देखा स्त्री को देखा या फिर जमीन, जायदाद, धन-दौलत, पद, कुर्सी में उलझा रहा । इसके अतिरिक्त उसे शायद ही कभी कुछ दिखाई देता हो । ओझल हुआ है तो सूरज हुआ है । वायु देवता ओझल हुए हैं । जाना बहुत कुछ है, पर नहीं जाना तो अपने मस्तिष्क में विराजित बृहस्पति को । शरीर का जाल तो उसे दिखाई दे रहा है उदर, जिह्वा, नाभि दिखाई दे रही है । नहीं देख पा रहा है तो वहाँ स्थित अग्नि देव को नहीं देख पा रहा है । हृदय के स्पन्दन तो उसे सुनाई देते हैं, शीतलता भी नजर आती है, अगर नजर नहीं आता तो वह चन्द्रमा है ।

मुझे तो स्वयं में और आप में भी वही देवता और उनकी दिव्य किरणें नजर आती हैं । मैं सांसों में वायुदेव को देखता हूँ और हृदय में चन्द्रमा को । दिमाग में देव गुरु को और नाभि में अग्निदेव को । ध्यान का प्रयोग ही इसलिए है कि वह स्वयं में समाहित दिव्यत्व को जाग्रत करे । काया में रहने वाले कायनात तक पहुँचाए । काया हमारा मंदिर हो जाए, जहाँ से धूप की मदमदाती सुगंध विस्तीर्ण हो ।

जब किसी ज्ञानी का सत्संग उपलब्ध हो जाए तो जैसी ऋचाएँ और आयतें सुनाई देती हैं वैसी सुन रहा हूँ, देख रहा हूँ । देखता हूँ, जान रहा हूँ । देखता हूँ और सवेदनाओं का अनुभव कर रहा हूँ । देखता हूँ, देखने में दिव्यत्व को देख रहा हूँ । देख रहा हूँ मन में कहीं-न-कहीं से आने वाले तमस को भी । तमस की जंजीरों को काटने के लिए ही ध्यान की धारणा है । मन की कारा कटे और हृदय की धारा फूटे, जीवन में बस इतना-सा मंगलाचरण चाहिए । हमें भीतर के तमस को हटाकर दिव्यत्व को जगाना है । अपने अन्तर में विद्यमान देवताओं से मैत्री बनानी है और परा शक्ति से संबंध स्थापित करना है ।

मन इन सबके बीच रुकावट है । मन की उच्छृंखलता से जीवन में पागलपन है । मन के कारण ही युग कृष्ण लेश्याओं से युक्त है । मन की राजनीति जीवन की सौम्यता और पवित्रता को ध्वस्त कर देती है । अच्छा होगा हम जीने की कला और

जीवन के विज्ञान को समझें और उसके अन्तर-स्वरूप तक पहुँचें। मन, जिसमें शैतान का वासा है, उससे मुक्त होकर संसार में जिएं। अन्तर-जगत् से शैतान का उन्मूलन हो, भगवान का जागरण हो।

ध्यान रखें, ध्यान हमें संसार से विमुख नहीं करता। संसार में कैसे जिएँ, इसका गुर देता है। आप जहाँ हैं, जैसे हैं, ध्यान में स्थिर हो लें। पांच मिनट की डूबकी भी हृदय को तरोताजा कर देगी। हम अपनी बोझिलता को शिथिल करें और स्थितप्रज्ञ हो लें। ध्यान रखें, ध्यान जंगल की प्रेरणा नहीं है। जंगलीपन को मिटाने की प्रेरणा है। ध्यान अंतर-प्रेरणा है। ध्यान धर्म का नारा नहीं है। ध्यान अंतर-ध्वनि की श्रुति है। ध्यान संसार से भागना नहीं है। ध्यान की गहराई में डूबने पर संसार का दलदल स्वयं ही छूटता जाता है और दलदल में छिपा बीज कमल की तरह प्रगट हो जाता है। व्यक्ति रहता तो तब भी संसार में ही है, लेकिन कोई बीज कमल बन गया, बीज में से बरगद निकल आया। तब भौतिक और भगवान का, दूध और पानी का फर्क स्पष्ट हो जाएगा। वह विदेह की आँख, वह सम्यक्त्व की दृष्टि हमारे साथ रहेगी। ध्यान संसार में रहकर संसार से अछूते रहने की कला है। सबसे प्रेम होगा, लेकिन अन्तरघट में निर्लिप्तता बनी रहेगी। ध्यान वह पगडंडी देगा जिसमें हम सबके बीच होंगे, भीड़ में खड़े रहेंगे, लेकिन एकत्व का बोध सतत जाग्रत रहेगा। यूँ तो शरीर रात में विश्राम कर लेता है, लेकिन मन तब भी चंचल ही रहता है। और ध्यान मन से उपरत होना सिखाता है। मन की काल्पनिक दौड़ और भटकाव से ध्यान मुक्ति दिलाता है।

मन दिन में संसार और रात्रि में सपने देखता है। यह विश्राम कर ही नहीं रहा। मन ने अगर विश्राम पाया, तो जीवन का अध्यात्म उपलब्ध हो गया। मन के मौन हो जाने पर दिव्यत्व हमारे साथ होगा। तब कहीं बाहर के देवलोक में नहीं जाना होगा, यह संसार और जीवन ही देवलोक हो जाएगा। वाणी, विचार, मननशीलता, इनका जब उपयोग करना होगा, तब करेगा, अन्यथा सब कुछ स्वयं के नियंत्रण में होगा। मन को हम ध्यान की दिशा दें, ध्यान का साहचर्य दें। ध्यान यानी वह मार्ग, जिससे मन को दिशा मिल सके, दिशा दे सकें। ध्यान का कोई आग्रह नहीं है। यदि और भी कोई प्रयोग हो, और भी कोई मार्ग हो, वह अपना सकते हैं। जिससे मन का, चित्त का निर्मलीकरण हो, शमन और शोधन हो, वह कोई भी मार्ग अपनाया जा सकता है। मार्ग वही सार्थक है, जो मंजिल दे, परिणाम दे। राख पर की गई लीपापोती न हो जाए।

मैं मन को जीवन का अत्यन्त गुह्यतत्त्व मानता हूँ और यह भली भाँति जानता

हूँ कि यदि मन की स्थिति और प्रकृति को समझ लें, तो मन जीवन के लिए स्वयं के अन्तर्जगत् का सबसे बड़ा वरदान हो जाए। अर्जुन ही क्या, हर कोई यह कहेगा कि मन को वश में करना उतना ही कठिन है, जितना कि वायु को वश में करना, पर अभ्यास, दृढ़ इच्छाशक्ति और रचनात्मक चिन्तन तथा सकारात्मक व्यवहार के द्वारा मन की स्थिति को बदला जा सकता है।

जिसका मन शांत और नियंत्रित नहीं है, वह मानसिक संत्रासों और रोगों से घिरा रहेगा। मानसिक रोग उसके शारीरिक रोगों का भी कारण बनेगा। जिसने एक मन को स्वस्थ कर लिया, वह स्वास्थ्य-लाभ की नब्बे फीसदी यात्रा पूरी कर चुका। मन ही बीमार है, तो शरीर की कितनी भी देखभाल कर लो, आदमी अस्वस्थ, संत्रस्त और उदास ही रहेगा।

मनुष्य का मन बीमार है। मन पेचिदियों में, उलटबाँसियों में उलझा है। हम समझें मन को। मन का पहला रूप है विक्षिप्तता। विक्षिप्तता यानि पागलपन। अधिकांशतः सभी का मन विक्षिप्त और पागल है। यह न समझें कि जो पागलखाने में हैं, वही पागल हैं। मैं जिस पागलपन की बात कर रहा हूँ वह अत्यन्त गहरे और भिन्न अर्थ में है। क्योंकि मन का पागलपन बहुत विचित्र है। मन की अनियंत्रित अवस्था ही उसकी विक्षिप्तता है। विक्षिप्तता का अर्थ है जहाँ मन में उठने वाले विचारों और विकल्पों में कोई सम्यक् संतुलन नहीं; पूर्वापर विरोध है, एक दूसरे के प्रति विरोधाभास है। आपने देखा होगा कभी आपके मन में क्रोध के शोले उठने लगते हैं और थोड़ी देर बाद प्रेम की रसधार भी बहने लगती है। एक के प्रति क्रोध और उसी क्षण में दूसरे के लिए क्षमा, यह चित्त की विरोधी प्रकृति है, यह विक्षिप्तता का नमूना है।

हमारा युग भी इतना उन्मादी है कि कहीं पर शांति के इन्तजाम दिखाई ही नहीं देते। मंदिरों और गिरजाघरों में कितने घंटे बजते हैं, लेकिन चेतना किसी की नहीं जगती। शांति के उपायों के लिए बेतहाशा शस्त्र-निर्माण होता है, पर क्या कभी अस्त्र-शस्त्रों से शांति आई है? सुरक्षा के जितने इन्तजाम हो रहे हैं, मनुष्य उतना ही अधिक असुरक्षित हुआ है। मनुष्य बात करेगा शांति की और कार्य होंगे अशांति के। विश्व के समृद्ध राष्ट्र निरस्त्रीकरण का नारा गुंजाते हैं और अणुबम और हाइड्रोजन बम भी बनाते हैं। शस्त्रों का जितना निर्माण इन समृद्ध राष्ट्रों में होता है, उतना अन्य कहीं नहीं। ये राष्ट्र अपनी सैन्यशक्ति पर जितना खर्च करते हैं, कुल उतना तो हमारा राष्ट्रीय बजट भी नहीं होता। और, ये ही राष्ट्र सबसे अधिक शांति और निरस्त्रीकरण का ढिंढोरा पीटते हैं। क्यों?

क्योंकि इनकी स्थिति और विक्षिप्ता गहन और भयभीत है । जिस दिन किसी विक्षिप्त की विक्षिप्तता सिर से बाहर निकल आएगी, सम्पूर्ण विश्व को नेस्तनाबूद कर देगी । क्योंकि मनुष्य जब तक शांत है तब तक ठीक-ठीक बात करेगा, लेकिन अशांत होते ही अपनी कही हुई बात भूल जाएगा ।

विक्षिप्तता मन की पहली दशा है । और दूसरी स्थिति है मन के यातायात की । वह मन जो दिन-रात चलता रहता है, हरदम ऊहापोह में लगा रहता है, जैसे शहर में चौराहों पर ट्रैफिक जाम रहता है, वैसे ही मन भी विचारों के ट्रैफिक से जाम रहता है । हमारे मन में विचार-विकल्प इस तरह गुंथे हुए हैं कि हम कहीं भी हों चाहे मंदिर में या दुकान में, घर में हों कि बाजार में, मन विचारों में भटकता ही रहता है । मनुष्य को समझ में नहीं आ रहा है कि वह मन पर कैसे नियंत्रण करे । हमारे मन में विचारों का ऐसा जंजाल है कि इससे कैसे मुक्त हों, यह समझ से परे है । चारों ओर चक्का जाम है । दिन-रात सोते-जागते कभी क्रोध-कषाय, कभी अहंकार, कभी मूर्च्छा, कभी वैमनस्य के विचारों के कारण हमारा मन नागपाश की भांति हो गया है । हमारे मन की स्थिति कीचड़ में फँसे हुए कीड़े की भांति हो गई है कि कीड़ा जितने हाथ-पाँव मारकर बाहर निकलने की कोशिश करता है, उतना ही अधिक कीचड़ में घँसता जाता है । लगता है मन मनुष्य नहीं हुआ ।

डार्विन ने विकासवाद का सिद्धान्त दिया कि मनुष्य का विकास बंदरों से हुआ है, लेकिन जब-जब मन को देखा है, लगता है मनुष्य पैदा ही कहाँ हुआ है । मनुष्य का मन तो बंदर की भांति उछल-कूद करता ही रहता है । घड़ी के पेण्डुलम की तरह मन इधर-उधर डोलता ही रहता है । और जब तक मन डोलता रहता है, तब तक मनुष्य का मन यातायात मन है ।

मन के बाहर की ओर बहते प्रवाह का नाम ही मन का विस्तार है । मन के प्रवाह का स्वयं में संयमित हो जाना ही मन का नियंत्रण है । मन की एक और अवस्था देखता हूँ - वह है संश्लिष्ट मन की । एक ऐसे मन की जो पूरी तरह से उलझा हुआ है । एक ऐसा मन जो क्षण भर को तो स्थिर होता है, लेकिन उस स्थिरता में चंचलता समाई रहती है । किसी काम के लिए स्थिर होता है, लेकिन कार्य की समाप्ति से पहले ही वही गहमागहमी । अपनी ही बनाई दुनिया में मनुष्य उलझ गया है । वैसे तो मन स्थिर होता ही नहीं । अगर स्थिर हुआ भी, तो अशुभ विषयों में, अशुभ विचारों में, अशुभ निमित्तों में । रुचि का विषय हो, तो घंटों उसमें बिता सकते हो, लेकिन ध्यान ! उसमें तो कोई

रुचि ही नहीं है। अच्छा लगता है इसलिए ध्यान करने को मन होता है - शायद कुछ मिल जाए। लेकिन अभी तो रसमयता ही नहीं है, अभीप्सा और अभ्यास भी नहीं है - कुछ मिलता भी नहीं है तो झटपट ध्यान से विमुख हो जाते हैं। ध्यान में भी दुकान-मकान का घाटा-मुनाफा मनोमन चक्कर लगाता रहता है। परदेश गई पत्नी का चितन चलता रहता है। हालांकि चिंतन भी हुआ और ध्यान भी, लेकिन यह ध्यान अंत में पीड़ा दे गया, कसक दे गया।

वह ध्यान किस काम का जो तुम्हें पुलकित न कर सके, आनन्द से न भर सके, बल्कि पीड़ा दे जाए। वह ध्यान जो आपकी नींद उड़ा दे, आपको छटपटा डाले, आपके तन-मन को जला डाले, तो वह ध्यान नहीं हुआ। वह तो आर्त और रौद्र ध्यान हो गया। दुकान का ध्यान है, मकान और परिवार तथा बच्चों का ध्यान है, लेकिन यह सब सीमित ध्यान हैं और इन्हीं में उसका रमण भी है। वह अगर मंदिर भी जाता है तो परमात्मा से ध्यान नहीं लगा पाता, क्योंकि वहाँ मन टिकता ही नहीं है। मन नहीं टिकता क्योंकि मन के पास परमेश्वर की भाषा नहीं है। मन की अपनी भाषा है जो सिर्फ संसार की भाषा है। उसके पास मोक्ष की भाषा होती ही नहीं। शब्द होते हैं, पर भाषा नहीं।

मन उस तूफान की भांति है जो शांत नहीं होता। यह गलत है कि हम मन की तुलना तूफान से कर रहे हैं। तूफान तो तबाही मचाने के बाद शांत भी हो जाता है, पर मन में तो निरंतर तूफान उठते ही रहते हैं, मन तो जैसे शांत होना जानता ही नहीं। वह तो उलझा ही रहता है। शुभ-अशुभ के अन्तरद्वन्द्व में।

मनुष्य का एक और मन है जिसे हम तन्मय मन कहेंगे, सुलीन मन कहेंगे। किसी भक्त का मन ऐसा ही तन्मय होता है, ऐसा ही सुलीन और रसपूर्ण होता है। जहाँ लग गया वहीं लीन, तल्लीन। ध्यान और धर्म के लिए केवल तन्मयता चाहिए। जीवन को जीने के लिए भी तन्मयता चाहिए। ऐसा तन्मय मन जिसका संबंध शुभ विषयों, शुभ निमित्तों के साथ जुड़ा हुआ हो। मेरे सामने नारी भी आती है, पुरुष भी आते हैं लेकिन मैं किसी को हटाता नहीं हूँ, ऐसा भी नहीं कि पुरुष से प्रेम करूँगा और स्त्री से प्रेम न करूँगा। अगर संश्लिष्ट मन हो, उलझा हुआ मन हो, तो दोनों की केवल काया दिखाई देगी। लेकिन सुलीन मन होने पर वह शुभ विषयों पर एकाग्र और स्थिर होता है। तब वह स्त्री और पुरुष में काया के अतिरिक्त भी बहुत कुछ देख लेता है और यह दिख जाना ही सत्यम् का दर्शन है, सम्यग् दर्शन है। मैं अपने जीवन को प्रेम से भरा हुआ पाता हूँ। अपने जीवन में करुणा और दया भी पाता हूँ। प्रेमरहित होने का उपाय भी

नहीं है ।

तुम भी चाहे जैसे हो, लेकिन प्रेम के बिना नहीं रह सकते । प्रेम जीवन का अनिवार्य अंग है । प्रेम के बिना जीवन दुश्वार हो जाएगा । सबके अपने-अपने ढंग हो सकते हैं प्रेम के, लेकिन प्रेम ही न हो, यह नहीं हो सकता । अशुभ विषयों और अशुभ निमित्तों पर प्रेम होने से तुम विकार पाओगे और शुभ विषयों पर ध्यान केन्द्रित होने से प्रेम में विश्व-बंधुत्व का भाव देखोगे । उस ध्यान से अहिंसा, शांति का जन्म होगा, करुणा और आनन्द की उत्पत्ति होगी । बस अन्तरलीन और आनन्द से भरा हुआ मन चाहिए । तब तुम्हारा व्यवसाय भी भगवान के मंदिर का आंगन हो जाएगा ।

तुमने नानक, कबीर, रैदास को पढ़ा है और जानते हो सभी व्यवसाय करते थे, लेकिन उनकी व्यावसायिकता अनुपम है, अनेरी है । कबीर जैसा फक्कड़ जब व्यवसाय करता है, तो वहां भी फक्कड़पन ही है और इस फक्कड़ता में उसने जिस जीवन-रस और जीवन-सौंदर्य का पान किया, वह धन-बहुल अमीर नहीं कर सकता । गोरा संत था, मिट्टी के घड़े बनाता था, रैदास जूतों की सिलाई करते थे, कबीर संत रहे मगर कपड़े बुनने का काम करते रहे । कपड़े बुनने का कार्य अगर आत्मलीन मन के साथ हो जाए, तो वह बुनना भी राम का ध्यान, अन्तर का गंगा-स्नान और स्वयं की निर्लिप्तता का सूत्र बन जाता है ।

मैं तो कहूँगा तुम झाड़ू भी लगाओ तो वह भी ध्यान बन जाए । बिल्कुल एकाग्रता से शांत चित्त हो झाड़ू लगाओ । देखो, कितने रूप में ध्यान घटित हो जाएगा । पहला ध्यान अहिंसा का कि कोई जीव या चींटी न मर जाए, दूसरा ध्यान करुणा का कि आए हुए जीवों को उठाकर किनारे कर दूँ, तीसरा ध्यान कर्मयोग का हो रहा है कि अपने समय का उपयोग कर रहे हो और चौथा ध्यान स्वयं का हो रहा है कि अगर मन में किसी प्रकार के अभिमान या अहंकार की ग्रंथि है तो वह नीचे गिर जाएगी । जीवन की हर गतिविधि ध्यानपूर्वक सम्पादित होनी चाहिए, बहुत ही सुलीन और सम्यक् मन के साथ ।

मन को सार्थक दिशा देने के लिए, मनोविजय के लिए हम कुछ छोटे-छोटे सूत्र लें । ध्यान रखें अपने आपको वही व्यक्ति जीत सकता है, जो अपने मन पर विजय प्राप्त कर लेता है या जो अपने मन से मुक्त हो जाता है ।

पहली बात, मन का सम्बन्ध इन्द्रियों से है और इन्द्रियों का सम्बन्ध विषयों से । हमारी ओर से जब भी किसी विषय का उपयोग हो, तो वह कभी भी हमारी अन्ध

प्रवृत्ति न बन जाए, वरन् हम अपनी बुद्धि का, अपने विवेक का अवश्य उपयोग करें। हम यह भी अपने विवेक से सोचें कि विषयों का उपयोग कर मैंने क्या पाया, कितना पाया। क्या मैं अब भी विषयों के लिए व्याकुल ही हूँ, या मन शान्त-निर्लिप्त हो गया।

माना हम मन की वासनाओं को पूरी तरह निर्मूल नहीं कर सकते पर हाँ, उनको संस्कारित तो कर ही सकते हैं, उनमें परिवर्तन तो ला ही सकते हैं। हम मन को विषय से, उसके निमित्त और उसके विचार से अलग कर उसे प्रकृति के सान्निध्य में ले जाएँ। प्रकृति के मुक्त स्वरूप का उसे रसास्वाद लेने दें।

दूसरी बात, हमारा मन जितना निर्मल और निश्चित होगा, वह उतना ही सहज और सुशील होगा। मन की शांति और निर्मलता के लिए जरूरी है कि हम क्रोध-आक्रोश, वैर-विरोध, क्रिया-प्रतिक्रिया, छल-प्रपंच, काम-विकार, चिन्ता-तनाव में उलझे रहने की बजाय जीवन में सबके प्रति प्रेम लाएँ, किसी से अपने प्रति कोई गलती हो जाए, तो उसके प्रति क्षमा और करुणा के भाव ले आएँ। माना हम जीसस की तरह सलीब पर नहीं चढ़ सकते, महावीर की तरह कान में कील नहीं ठुकवा सकते, पर अपनों-परायों के द्वारा होने वाली छोटी-मोटी गलती को तो माफ कर ही सकते हैं।

किसी के प्रति अपने मन में गलत विचार उठने को भी हम उतना ही गलत मानें, जितना किसी का गलत करना। इससे वैचारिक और मानसिक अहिंसा का पालन होगा और हमारी मन की शांति बनी रहेगी।

अपरिग्रह को जीवन का धर्म समझने वाले लोग अपने मन में व्यर्थ के विचारों, विद्वेषों और विकारों को भी अपने लिए परिग्रह ही समझें और जिस तरीके से दिन-रात कंधे पर बोझा उठाकर चलना मूर्खता है, ऐसे ही अपने मन की भी मूर्खता को समझें कि वह कैसे-कैसे विचार, विकार से घिरा और दबा रहता है।

तीसरी बात, बेहतर होगा हम मन के आधारभूत ढाँचे को भी बदल डालने की कोशिश करें। हम सरल, सुपाच्य और सात्विक आहार ग्रहण करें। उपनिषद कहते हैं हम जो अन्न खाते हैं, वह तीन प्रकार का हो जाता है। जो स्थूल भाग होता है, वह मल हो जाता है। जो मध्यम भाग होता है, वह रक्त और मांस हो जाता है, जबकि जो सबसे सूक्ष्म भाग होता है, वह मन हो जाता है। इस बात से हम समझ सकते हैं कि शुद्ध खानपान मन के निर्मलीकरण में कितना उपयोगी है।

चौथा सूत्र यह है कि हम प्रतिदिन योगासन, प्राणायाम और ध्यान अवश्य करें।

योगासन से शरीर की स्थिति स्वस्थ और निर्मल होती है, प्राणायाम से श्वास और प्राणतत्त्व की, और ध्यान से मन-बुद्धि और आत्मा की ।

यदि आपको योगासन, प्राणायाम और ध्यान की समुचित विधि आती हो, तो श्रेष्ठ, अन्यथा सीख लें और यदि ऐसी सुविधा न मिले, तो एक प्रयोग कर लें—तीन मिनट का जॉगिंग कर लें, योगासन की क्रियान्विति हो जाएगी; पाँच मिनट तक दीर्घ श्वास-प्रश्वास ग्रहण कर लें, प्राणायाम की आपूर्ति हो जाएगी; श्वास-धारा पर चित्त को स्थिर करते हुए अपने आप में विश्राम कर लें, ध्यान की सहज परिणति सामने आ जाएगी । हम स्वयं को बहुत शान्त, पर आनन्दपूरित, स्वस्थ और तनावमुक्त पाएँगे ।

पाँचवी बात है हम स्वाध्याय-सत्संग अवश्य करें । इससे जहाँ बुद्धि-बल प्रखर होगा, वहीं मन ऊल-जलूल विचारों में भटकने से बच सकेगा । मन को मनन के लिए ज्ञानमूलक दिशा मिलेगी । जो व्यक्ति प्रतिदिन आधे घंटा भी नियमित स्वाध्याय करता है, वह अपने अपने मन का मार्गदर्शन करने में स्वयं समर्थ होता है ।

छठी बात, हमारी ओर से यह सजगता हर समय बनी रहे कि हमारी ओर से सबके साथ सम्बन्ध, व्यवहार और सोच संतुलित, संयमित और माधुर्यपूर्ण हों । हम स्वयं को विधायक पहलुओं से जोड़ें और हमेशा रचनात्मक तथा सकारात्मक सोच तथा कार्य से सम्बद्ध करें । हम अगर एक सोच को ही सकारात्मक बनाने में समर्थ हो गए, तो अपने आप हमारे जीवन की दिशा और दशा सुधर जाएगी ।

और जो अन्तिम सूत्र देना चाहता हूँ वह यह कि हम सदा मैत्री-प्रमोद और आनन्द-भाव में स्थित रहें, हम कर्ताभाव में नहीं साक्षिभाव में रहें । इस बोध के साथ कि मैं चैतन्य और आत्मविश्वास का स्वामी हूँ । अपने भीतर उठने वाली वृत्ति या विचार धारा अथवा किसी भी घटना से प्रभावित होने की बजाय उसका द्रष्टा भर रहना साधक का साक्षीभाव है । हम अपनी हर वृत्ति, विकार और विचार के प्रति सजग रहें । जीवन को बड़े होश और बोध के साथ जिएँ । अपने पर विश्वास रखना और ईश्वर के प्रति निष्ठा—मनोनिग्रह का मूलमंत्र है ।

हम अपने मन को पहचानें, उसकी अन्तरदशा को बदलें और मन से मुक्त हो जाएँ । मन की धारा कैसे बदल जाती है, वह किस तरीके से मुक्ति का मार्ग बन जाता है, इसके कई उदाहरण हैं ।

मुझे एक पात्र बहुत प्रिय रहा है । यूँ तो वह हजारों वर्ष पूर्व हो चुका है, लेकिन

मुझे प्रिय है, क्योंकि उसके साथ मेरे जीवन की धाराएँ जुड़ी हुई हैं। कहते हैं : भगवान ने एक आठ वर्ष के बालक को संन्यास दे दिया। था तो वह राजकुमार, लेकिन किन्हीं जन्म-जन्मान्तरों का पुण्योदय कि ले लिया संन्यास। जीवन में संन्यास की बातें करना बहुत सरल है, लेकिन संन्यास का फूल खिलना परम सौभाग्य है। कहीं परम भगवत् कृपा होती है, तब जीवन में संन्यास घटित होता है, संन्यास की क्रान्ति होती है और संन्यास का कमल खिलता है। वह आठ वर्ष का बालमुनि सुबह निवृत्ति के लिए जंगल की ओर गया। साथ में अन्य संत भी थे। सबने अपने-अपने स्थान का चयन किया और बैठ गए। लेकिन बच्चा तो आखिर बच्चा ही है। वह तो झटपट उठ गया। देखा रातभर बारिश हुई है, पानी का नाला बह रहा है। उसे अतीत की याद हो आई कि वह अपने उद्यान में चम्पा के साथ नौका खे रहा था कि किसकी नौका आगे जाएगी। मेरी नौका आगे बढ़ी थी, लेकिन चम्पा ने होशियारी की और मेरी नौका को डूबो दिया। तब मैंने चंपा को चाँटा जड़ दिया था और चंपा ने कहा था मैं तुम्हें देख लूँगी, मेरी नाव आगे बढ़ गई है और तुम्हारी नाव डूब गई है। बचपन की याद हो आई। संश्लिष्ट मन था, यातायात का मन था, कहीं विक्षिप्त मन था, बदल ही गया। भूल ही गया कि हाथ में जो पात्र है वह निवृत्ति के लिए लाया था। नौका ध्यान में आ गई और उस पात्र को नाले के पानी में उतार दिया। हाथ से पानी हिलाने लगा, पात्र आगे बढ़ने लगा, मन की धारा बदली—देख-देख चंपा, नौका पार लग रही है। कल तक तो कागज की नाव का प्रश्न था, आज तो परमात्मा की असीम कृपा कि इस नौका के बहाने जीवन-नैया ही पार लग रही है।

तब तक अन्य सभी संत वहाँ आकर एकत्रित हो गए। वे आपस में बातचीत करने लगे कि अरे भगवान ने भी क्या इस छोटे से लड़के को संन्यास दे दिया, इसे यह भी नहीं पता कि नाले में हाथ डालना चाहिए कि नहीं। सभी उसकी भर्त्सना करने लगे और भगवान के पास पहुँचे। प्रभु से शिकायत की कि आपने भी क्या एक बालक को संन्यास दे दिया। वह तो यह भी नहीं जानता कि एक साधु के क्या आचार-विचार हैं, उसे किस प्रकार जीवन जीना चाहिए। अब जब वह आपके पास आए तो सबसे पहले आप उससे प्रायश्चित्त करवाएँ तब संघ में सम्मिलित करें। भगवान खड़े हो गए और कहा, बालक वह नहीं, बालक तुम सब हो। प्रायश्चित्त उसे नहीं, तुम लोगों को करना है। क्योंकि तुमने एक केवली की आशातना की है। तुमने केवल ज्ञान और मुक्तिलाभ को उपलब्ध महाश्रमण की भर्त्सना की है। क्षमा-प्रार्थना कर प्रायश्चित्त करो।

‘भगवन् आप यह क्या कह रहे हैं’ - सभी साधु स्तब्ध रह गए। इसीलिए मैं

अपने आसन से खड़ा हो गया हूँ और एक केवली को अपने प्रणाम समर्पित करता हूँ - भगवान ने करबद्ध होते हुए कहा कि अब वह बालक बालक नहीं रहा, अइमुत्ता नहीं रहा, वह अतिमुक्त हो गया है ।

मन की धारा ऐसी बदली कि मन खो गया और स्वयं से मिलन हो गया । ऐसी धारा मिली कि असत्य छिटक गया और सत्य सत्य को उपलब्ध हो गया । ऐसी धारा पाई कि अशांति चित्त से बिखर गई और शांति की ज्योति अखंडित रूप से प्रज्वलित हो गई । आनन्द की धारा बह निकली । भगवान ने उन्हें प्रणाम किया कि धन्य हो बालश्रमण, तुम हो गए अतिमुक्त ।

वे सभी मुक्ति मार्ग का अनुगमन करेंगे जिनके पास शुभ विषयों से जुड़ा मन है, तन्मय, सुलीन और सम्यग् दिशा है । तब हम अपनी अन्तर्शक्ति के स्वामी हो जाएँगे । उस शक्ति के स्वामी जो घट-घट कण-कण में व्याप्त है । जिसे ईश्वर कहकर हम उसकी प्रार्थना करते हैं, अपने पुण्य समर्पित करते हैं ।

मन तन्मय मन हो जाए, सुलीन मन, लय योग को साध लें, तो मुक्ति और मोक्ष स्वतः स्वयं में साकार हो जाते हैं । मन शून्य हो जाए, तो महाशून्य से हमारा अस्तित्व एकाकार हो जाता है । मन, जो बाधक रहा, वही साधक और सहायक हो जाता है अन्तर्निहित शक्ति, पराशक्ति, परमात्म-शक्ति के अभ्युदय में । मन सुलीन मन हो जाए, तो मनुष्य खुद मनु हो जाता है ।

हम ध्यान से मन को पहचानें । या तो साक्षी-भाव की प्रगाढ़ता से मन से उपरत/ मुक्त हो जाएं, या परमात्म-अस्तित्व में उसे विलीन-सुलीन हो जाने दें । भक्ति की तन्मय अहोदशा से मन को धूप की तरह उठने दें और जैसे धूप आकाश की ओर उठकर आकाशमय हो जाता है, ऐसे ही हमारी चेतना महाचेतना से एकाकार-तदाकार हो जाए, जीवन ज्योतिर्मय हो जाए ।

इतना ही अनुरोध है ।



विचार-शक्ति का विकास

मेरे प्रिय आत्मन्,

मनुष्य स्वयं के कारण ही सुखी या दुखी है। अपने जीवन के समस्त सुखों और दुखों के लिए मनुष्य ही उत्तरदायी है। यह उत्तरदायित्व हम ईश्वर के कंधों पर रखें या नियति के कालचक्र पर या इसका दोष कर्म के मत्थे चढ़ें या किसी अन्य को दोषी बनाएँ, लेकिन जीवन का सत्य यह है कि व्यक्ति जैसा है, अपने ही कारण है। अगर कर्म है तो वह भी मनुष्य की ही अपनी देन है, समय है तो उसके बीज भी कभी हमने ही बोए थे। नियति या प्रकृति है, तो उसका व्यवस्थापन भी हमने ही किया है। गहरा सत्य यह है कि आदमी आज जैसा है वह अपने ही कारण है। वह आज जैसा है, इसके लिए उसने पहले जरूर कभी सोचा होगा, बीज बोए होंगे।

हम जैसा सोचते-विचारते हैं, वैसा ही हमारा व्यक्तित्व निर्मित होता है। हमारा वर्तमान अतीत में सोचे हुए विचारों का परिणाम है। आने वाला कल आज के विचारों का परिणाम होगा। हमारा वर्तमान अतीत की पुनरावृत्ति है और भविष्य वर्तमान का खुला प्रकाशन। आज हम मन की जो स्थिति पाते हैं, वह निश्चित ही अतीत में बन चुका था। विचार ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को आंदोलित और प्रभावित करते हैं। व्यक्ति के पास जैसी विचार की परम्परा और विचार की दिशा होगी, वैसा ही उसका व्यक्तित्व उसका जीवन, उसकी वाणी और उसका व्यवहार हो जाएगा। इसलिए अपने हर

सोच-विचार के प्रति बड़े सजग हों, क्योंकि वह हमारा कच्चा उत्पादन है। भीतर का उत्पादन सही हो इसके लिए हम सजग हों।

दुनिया में कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके पास विचार करने की क्षमता नहीं होती है। वे कोई अनपढ़ और गँवार नहीं होते, वरन उनकी चेतना पर अज्ञान और मूर्छा के अंधेरे घने आवरण आ जाते हैं, जिसमें उनकी विचार शक्ति कार्य नहीं करती। सभी मनुष्यों के मस्तिष्क एक जैसे होते हैं, लेकिन विकास-प्रक्रिया में अन्तर होता है। तमस के जितने सघन आवरण होंगे, विचार करने की शक्ति उतनी ही क्षीण और शिथिल होगी। तमसू ज्यों-ज्यों कम होगा, विचार-शक्ति उतनी ही अधिक विकसित और प्रखर होगी।

ध्यान हमारे विचारों का ऊहापोह तो शांत करता है, किंतु विचार करने की शक्ति प्रदान करता है। विचार-शक्ति की उपलब्धि ध्यान का परिणाम है और विचारों के ऊहापोह का शमन, विचारों की अनर्गलता का विरेचन ध्यान का प्रतिफल है। ध्यान विचार करने की शक्ति को समाप्त नहीं करता, बल्कि जो विचार, वृत्ति और विकल्प बनते हैं उस उच्छृंखलता को लगाम देता है। ध्यान का कार्य मनुष्य को वृत्ति और विकल्प के वाल्योचक्र से मुक्त करना है। विचार तो जीवन का वैभव और वरदान है। लेकिन विचार ही मानव-जीवन के उत्ताप और संत्रास का तब कारण बन जाते हैं, जब वह विकल्प और वृत्ति की खटपट से घिर जाता है।

विचार-विकल्प पर हमारा नियंत्रण न हो, तो अनियंत्रित विचार व्यक्ति के लिए चिंता, तनाव और घुटन का कारण बन जाते हैं। तुम अपने विचारों को एक बिन्दु की ओर केन्द्रित कर दो, तो वही एकाग्रता बन जाता है। मोमबत्ती की तरह झिलमिलाते विचार तो हवा के एक छोटे-से झोंके से भी बुझ जाते हैं। उनका कोई अस्तित्व नहीं।

तुम व्यर्थ में ही सोचते मत रहो। अपने भटकते विचारों को रचनात्मक मोड़ दो। तुम उन्नत मस्तिष्क और उच्च विचारों के स्वामी बनो। ध्यान को तुम मस्तिष्क को ऊर्जस्वित करने में लगाओ, हृदय के द्वारों को खोलने में लगाओ, अपनी जन्म-जन्म की मूर्च्छा को तोड़ने में लगाओ। ध्यान, जिसके द्वारा तुम्हें एक काम कर ही लेना चाहिए, वह है अपनी मूढ़ता के कोहरे को हटाना, मूढ़ता को समझना और मूढ़ता से मुक्त होना।

जिनके पास विचार करने की क्षमता नहीं होती वे मूर्ख नहीं, मूढ़ होते हैं। मूर्ख व मूढ़ में अंतर है। मूर्ख वह है जो अनपढ़ व गँवार है, कुछ समझता नहीं, कहने पर भी

समझ में नहीं आता । मूढ़ वह है जिसे समझ में तो सब आता है, लेकिन जिगर में कुछ उतरता नहीं । हम दो पात्र लें—एक है युधिष्ठिर, दूसरा है दुर्योधन । युधिष्ठिर सत्यप्रिय, शांत । दुर्योधन घमंडी । ध्यान दें इस बात पर कि दुर्योधन मूर्ख नहीं था । जिस गुरु ने युधिष्ठिर को शिक्षा दी, उसी के पास दुर्योधन भी था । दोनों ही एक साथ शिक्षा पा रहे थे, लेकिन दोनों के बीच समझ में उतनी ही दूरी थी, जितनी पत्थर और निर्झर के बीच है । वह मूर्ख नहीं, मूढ़ था । मूर्ख अज्ञानी होता है, मूढ़ मूर्च्छित । वह स्वयं ही कहा करता था—‘जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्तिः; जानामि अधर्मम् न च मे निवृत्तिः:—मैं जानता हूँ धर्म को, मगर प्रवृत्त नहीं हो पाता, मैं जानता हूँ अधर्म को भी, पर निवृत्त नहीं हो पाता । मूढ़ता है यह । ज्ञान होते हुए भी ज्ञान के अनुसार न जी पाना, इसी को कहते हैं मूढ़ता ।

मूर्ख एक दफा माफ किये जा सकते हैं, लेकिन मूढ़ को चलाना छोटे सिक्के को चलाना है । ध्यान मूढ़ता को तोड़ने की औषध है । भीतर की मूर्च्छा को, भीतर के तमस को तोड़ने का सूत्रधार है ध्यान । हम ध्यान के द्वारा अपनी मूढ़ता समझें और उसके पार लगें ।

हम अपनी मूढ़ता को तोड़ने के लिए क्या अपनी इच्छाशक्ति, विचार-शक्ति का उपयोग करना चाहेंगे ? मैं चाहूँगा हम अपने आप पर विचार करें, अपने बारे में विचार करें, अपनी विचार-स्थिति पर विचार करें ।

कुछ लोग होते हैं जिनमें विचार करने की क्षमता होती है । लेकिन ये भी दो प्रकार के होते हैं, एक जिनमें विचार करने की क्षमता तो है, लेकिन आत्म-विश्वास की कमी होने की वजह से उनका विचार कभी विश्वास नहीं बन पाता, निर्णायक रूप नहीं ले पाता । आप सबमें भी विचार करने की क्षमता तो अवश्य है, लेकिन आत्म-विश्वास की कमी के कारण वह विचार हमारा व्यक्तित्व नहीं बन पाता, हमारे जीवन का प्रकाश नहीं बन पाता । दूसरी विचार की अवस्था है निर्विचार होना, शान्त मन का स्वामी होना । इस स्थिति में हम द्रष्टा भर रहते हैं हर उधेड़बुन के । तब हममें विचार-शक्ति पूर्ण होती है, लेकिन विचारों का बहाव थम चुका होता है । उद्विग्नता समाप्त हो गई होती है । चढ़ते-गिरते भावों का बवंडर रुक गया होता है ।

शान्त मन का स्वामी होना जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है । अशान्त मन का गुलाम होना जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी है । शान्त मन को सीमित साधन भी सुखावह हैं । अशान्त मन को राजमहल भी कष्टकर है । शान्त मन स्वस्थ जीवन का सूचक है, अशान्त मन रुग्ण जीवन का । हमारी ओर से एक ही सजगता और एक ही

चेष्टा हो कि मन शान्त रहे, निर्भय और निर्मल रहे। अगर ऐसा हो गया, तो तुमने बाजी मार ली, तुम जीत गए।

निर्विचार की स्थिति श्रेष्ठ है। पतंजलि ने तो निर्विकल्प समाधि की बात कही है। मुझे नहीं लगता कि यह समाधि आदमी को जीवनभर बनी हुई रहती हो। योग-पुरुषों की बात अलग है, आम आदमी के लिए तो समाधि को आत्मसात् करना यही है कि वह शान्त मन का मालिक बना, शान्ति और समदर्शिता का स्वामी हुआ।

जिसका मन शान्त है, वह विचार-शक्ति का मालिक होता है। मन की अनुद्विग्नता से बुद्धि-पक्ष ज्ञान-पक्ष, चैतन्य-पक्ष सहज जागृत रहता है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है। बुद्धि से मन पर अंकुश लगता है। शरीर का काम है श्रम करना, बुद्धि का काम है विचार करना। हम मन और बुद्धि दोनों का सकारात्मक और समन्वित उपयोग करें। हम मनन करें। हम यह जानें कि हम क्या सोचें, किन बिन्दुओं का विचार करें। हम ऐसा क्या करें जिससे हमारे सोच पर, हमारे विचार पर हमारा सुमधुर नियन्त्रण हो। विचार हमारे मार्गदर्शक बनें और हम अपने विचारों के।

हम विरोधाभासी विचारों से बचें। हम गिरगिट की तरह रंग न बदलें। ऐसा नहीं कि सुबह अमुक विचार और शाम को अमुक। हम किसी भी बिन्दु पर अपना मानस बनाने से पहले, निर्णय करने से पहले उस पर मनन और मंथन करें, उसके हानि-लाभ दोनों पहलुओं पर चिन्तन करें, पश्चात् निर्णय की स्थिति तक पहुँचें। बहुत अधिक न सोचें। सोचने के लिए मस्तिष्क का उपयोग करें, पर ध्यान रखें हममें जितनी एकाग्रता और स्थितप्रज्ञता होगी, हमारा विचार उतना ही गम्भीर, उतना ही पूर्ण और उतना ही सटीक होगा।

अपने आपको हम निषेधात्मक पहलुओं में न उलझाएँ। आखिर ऐसी कौन-सी चीज है जिसका निषेधात्मक पहलु नहीं होता। शायद ऐसी भी कोई चीज नहीं है जिसका विधायक पहलु न होता हो। किसी भी चीज का विद्यमान होना ही उसका विधायक पहलु है। हम हर वस्तु के हर विचार के विधायक पक्ष की ओर जाएँ। पोजेटिवनेस !

हम जिस भी पहलु पर सोचें, विचारें, समग्रता से चिन्तन होना चाहिए। समग्रता से विचारने वाला अनिवार्यतः विधायक दृष्टिकोण का स्वामी बनता है। आज दुनिया में इस बिन्दु की सर्वाधिक जरूरत है। घर-परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व—हर दृष्टि से यह आवश्यक है कि हमारा विचार-दृष्टिकोण समग्र हो, विधायक हो। अगर ऐसा होता है,

तो तुम पाओगे तुम्हारी और तुम्हारे सम्बन्धों की फिजा ही बदल गई है ।

तुमने क्या कर दिया उमर का,
खंडहर राजभवन लगता है ।
व्यंग्य-वचन लगता था कल तक
वह अब अभिनंदन लगता है ॥

बस, थोड़ी-सी कला आ जाए, सोच की कला, विचार-धारा को सकारात्मक बनाने की कला, विचारों को विश्वास और विकास का स्वरूप देने की कला । हम इसके लिए ध्यान का भी उपयोग करें और अपनी समझ का भी ।

विचारों से मुक्त होने की एक प्रक्रिया तो यह होती है कि व्यक्ति विचारों का साक्षी भर हो जाए । ध्यान में जब तुम बैठे हो और विचारों की उधेड़बुन शुरू हो, तो उस ओर ध्यान ही न देना । जो उठता है, उठे, तुम उस उठते के साथ न उठो, न गिरते के साथ गिरो । तुम उससे तटस्थ रहो, निरपेक्ष रहो । यह एक श्रेष्ठ तरीका है । यह ध्यान की आधार भूमिका भी है । संबोधि-ध्यान की विधियों में भी इस बात को प्राथमिकता दी गई है । महावीर-बुद्ध, अरविंद-ओशो, गोयनका-कृष्णमूर्ति जैसे लोगों ने भी विचार-निरपेक्षता को मन से मुक्त होने का मूल मंत्र माना है ।

मैं इस सन्दर्भ में जो बात कहना चाहता हूँ वह यह कि हर व्यक्ति उस साक्षित्व को, विचार-निरपेक्षता को साध नहीं सकता । इसलिए एक और रास्ता है, जो सरल है । सरलता पूर्णता से ज्यादा सहज-सरल होती है, दूसरा रास्ता यह है कि हम अपनी विचार-धारा को उन्नत बिन्दु से जोड़ें । उसे विज्ञान-केन्द्रित करें । हम अपने भटकते मन को ईश्वर की सत्ता के साथ संयुक्त करें । मन की चेतना को परमात्मा की चेतना से एकाकार करें । हम जीवन के बारे में मनन करें, जगत् के रहस्यों के बारे में मनन करें । इससे जहाँ मन का इधर-उधर भटकाव थमेगा, वहाँ मन और विचार की शक्ति का रचनात्मक परिणाम भी आएगा ।

आप अपने विचारों से विश्वास और विकास के, शान्ति और माधुर्य के द्वार-दरवाजे खोलें । जीवन का कोई भी पल, कोई भी पहलु व्यर्थ नहीं जाए । जीवन की हर अन्तिम परिणति तक पहुँचना जीवन की सिद्धि ही है ।

मैं ऐसे तीन बिन्दुओं से परहेज रखने की भी सलाह दूँगा, जो कि हमारी विचार-स्थिति के दोष हैं । पहला है आक्रोश, दूसरा है आशंका और तीसरा है आग्रह ।

आक्रोश हमारे बुद्धि-पक्ष को कमजोर करता है। आशंका के चलते हम सत्य-असत्य की मिश्रित स्थिति में रहते हैं, वहीं आग्रह-कदाग्रह के कारण हम सत्य के द्वार पर दस्तक नहीं दे पाते हैं।

पहला है—आवेश, आक्रोश।

जिस समय आप आवेश से घिरे हुए हों उन क्षणों में किसी भी बात के बारे में विचार न करें। आवेश के क्षणों में किया गया विचार और अधिक आवेश देता है। आवेश के क्षणों में दस मिनट का मौन रख लें। वातावरण ठंडा हो जाए, तब उस विचार, उस बिंदु, उस वस्तु पर पुनः चिंतन करें। यह हमारे द्वारा अपनी विचार-शक्ति को सुरक्षित रखना हो जाएगा।

बेहतर होगा हम किसी की गलती पर क्रुद्ध या खिन्न होने की बजाय उसकी गलती को माफ कर दें। प्रतिकूल स्थिति निर्मित होने के बावजूद जो अनुकूल बना रहता है, वही चित्त की सौमनस्यता को अपने जीवन में जी सकता है। कुरआन की आयत है, स्वर्ग उनके लिए है जो गुस्से को अपने काबू में रखता है और गलती करने वालों को माफ कर देता है। इस सन्दर्भ में हम एक प्यारी-सी घटना लें।

मेरी प्रिय कहानियों में एक कहानी है—पैगम्बर मुहम्मद के नाती खलीफा हुसैन नमाज़ अदा कर रहे थे कि तभी उनका गुलाम नौकर खौलते हुए पानी का बर्तन लेकर उधर से निकला। अचानक उसका पाँव फिसल गया और गर्म पानी के कुछ छींटे खलीफा हुसैन के शरीर पर जा गिरे। हुसैन नमाज़ अदा कर रहे थे, इसलिए उठ न सके। अन्यथा गुलामी का युग था और छोटी-छोटी गलतियों पर गुलामों को ऐसी सख्त सजा दी जाती थी कि रोंगटे खड़े हो जाएं। लेकिन हुसैन नमाज़ अदा कर रहे थे, अतः तुरंत कुछ न कर सके, लेकिन सोच रहे थे कि इसे कोड़ों से मार-मार कर अधमरा कर दूँ। नमाज़ की क्रिया जारी थी और दिमाग में आक्रोश का तूफान उठने लगा कि कब नमाज़ खत्म हो और इसे सजा दूँ। नमाज़ न पढ़ रहा होता तो शायद पांच-सात कोड़ों में छुटकारा मिल जाता, लेकिन क्रोध है कि बढ़ता ही जा रहा है। अब बेचारे गुलाम की न जाने क्या हालत हो। अब तो शायद पचास-साठ कोड़े पड़ ही जाएँगे। गुलाम समझ गया कि आज मुझसे बहुत बड़ी गलती हो गई है ऐसी गलती जो कभी माफ नहीं की जा सकेगी।

उसने नमाज़ अदा करने वाले के सामने अपने घुटने टेके और खुदा की ओर हाथ उठाकर कुरान की कुछ आयतें पढ़ने लगा। उसने कहा, 'जन्म उनके लिए है जो

स्वयं के क्रोध को अपने वश में रखते हैं।' हुसैन चौंका, क्योंकि आयत कुरान की थी। जिसके नाम पर वह नमाज पढ़ रहा था, उसी की आयत थी। सोचा, यह ठीक कहता है। मन ही मन बुदबुदाते हुए कहा, "हां, हां, मैंने अपने क्रोध पर नियंत्रण पा लिया है और गुलाम ने अगली आयत पढ़ी, 'स्वर्ग उनके लिए है जो गलती करने वालों को माफ कर देते हैं।' हुसैन फिर बुदबुदाए कि 'जा मैंने तुझे माफ किया।' यह सुनकर गुलाम ईश्वर की दया के प्रति अहोभाव से भर उठा।' उसने तीसरी आयत पढ़ी, "खुदा उन्हें प्यार करते हैं, जो दयालु और क्षमाशील होते हैं।'

हुसैन खड़ा हो गया। आज तक उसने कुरान सिर्फ पढ़ी थी, लेकिन आज कुरान जीवन की रोशनी बन गई। वह खड़ा हो गया। जब से पांच सौ दीनारें निकालकर गुलाम को देते हुए कहा, 'माफ करना भाई! आज से तुम आज़ाद हो।'

उद्विग्न भाव-दशा बदल गई। आवेश के क्षणों में विचारों की स्थिति नर्क की होती है। इसके विपरीत जब मनुष्य समता, सहानुभूति और शांति के क्षणों से गुजरेगा उसके विचारों की स्थिति स्वर्गिक होगी। जो भी महानुभाव क्रोध-आक्रोश से घिरे रहते हैं, उन्होंने एक प्रकार से अपनी नकारात्मक भूमिका बना डाली है। 'अभिशाप' क्या है, आत्म-नियंत्रण के अभाव में उठी नकारात्मक उत्तेजक प्रतिक्रिया है। दुर्वासा ऋषि सिद्ध साधक रहने के बावजूद क्रोध-आक्रोश से मुक्त न हो पाए, नतीजतन दुर्वासा ऋषि होने के बावजूद जन-जन की आस्था के केन्द्र न बन पाए।

हम दो प्रतीक लें—एक हैं राम, दूसरे हैं लक्ष्मण। राम प्रेम और सौहार्द के, मुस्कान और सम्मान के प्रतीक हैं, वहीं लक्ष्मण क्रोध और खीज़ के पर्याय बन गए। माना, उन्हें क्रोध तभी आता, जब वे कुछ नाजायज होता हुआ देखते। राम भी उस नाजायज का सामना करते, पर उनकी अपनी शालीनता थी, उनकी अपनी शिष्टता थी।

आप अपनी समझ से भी अपने आवेशों को मिटा सकते हैं और ध्यान के द्वारा भी। क्रोध का जागृत होना मूलाधार का सक्रिय होना है। सारी भौतिक इच्छाएँ, वासनाएँ, उत्तेजनाएँ वहीं से जन्म लेती हैं। तुम सहस्रार की ओर उठो, उन्मुक्त आकाश की ओर। तुम अपने आपको हर उद्वेग-संवेग से उपरत पाओगे।

कृपया हम अपनी मानसिक ऊर्जा को क्रोध-आक्रोश के द्वारा नष्ट न करें। हम विचार तभी करें जब शान्त-सौम्य हों। विचार की विपरीत मनोदशा में मौन ही श्रेष्ठ है।

विचार-शक्ति के संरक्षण के लिए दूसरा पहलू है : आशंकाओं से परहेज।

शंका-आशंका दीमक है, घुन है। जिसके भी जीवन-वृक्ष में लग जाए, पता ही नहीं चलता, कब वृक्ष खोखला बन जाता है। आदमी का जीवन तो खुली डायरी की तरह हो, गांधी की डायरी की तरह, जिसे पढ़ने के लिए संकोच न करना पड़े। जो है, साफ है। तुम्हें देखकर, तुम्हारे व्यवहार को देखकर कोई संदेह करे, यह वाजिब नहीं है। हम भी अपनी ओर से किसी के प्रति संदिग्ध न हों। जो जैसा है, उसकी वह जाने, हमारी आँखें औरों में नहीं, अपने-आप में हो। प्रिय साध्वी ईशून का प्रसिद्ध वचन है 'इफ यू लव, लव ओपनली।' छिपकर क्या करना। आदमी खुली किताब हो।

संदेह के कारण ही, बचपन में आपने वह कहानी पढ़ी होगी, जिसमें एक ग्रामीण महिला अपने बच्चे को पालने में सुलाकर पानी भरने जाती है। पालतू नेवला बच्चे के पास ही खेल रहा था। तभी उस ओर साँप आया। वह पालने की ओर ही बढ़ रहा था। नेवले ने देखा और बच्चे को बचाने के लिए साँप से भिड़ पड़ा। साँप मारा गया। नेवला लहलुहान था। मालकिन को घर की देहरी तक आया देख, नेवला मालकिन की ओर दौड़ा गया। मालकिन को लगा कि उसने कहीं उसके बच्चे को तो नहीं मार दिया! उसके मत्थे पर रखा मटका, इस संदेह के चलते गिर पड़ा और नेवला मारा गया। वह दौड़ी-दौड़ी कमरे में गई। बच्चा सकुशल था। सर्प मरा पड़ा था। गृहिणी समझ गई, पर उसे बहुत पश्चाताप हुआ। जिसने उसके बच्चे को बचाया, उसकी मौत उसके हाथों हुई।

देखा, संदेह का परिणाम! ध्यान रखो - जैसे ही किसी तत्त्व के प्रति आशंका आएगी, हृदय से विश्वास उठ जाएगा। विश्वास उठने पर आशंका वह सब देगी, जिसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते।

इतिहास की चर्चित कहानी है जब महारानी चेलना अपने पलंग पर सोई है सर्दों की ठिठुरन में ठिठुरती हुई। महाराज भी समीप ही सो रहे हैं। चेलना नींद में ही बुदबुदाती है, 'ओह, उनका क्या हो रहा होगा।' सम्राट के कानों में शब्द पड़े, आशंका का ज्वार उमड़ आया। आशंका आते ही सम्राट खड़ा हो गया। विचार आने लगे अवश्य ही महारानी के किसी अन्य के साथ संबंध हैं, अन्यथा रात्रि में सोए-सोए किसी को स्मरण करने का क्या अर्थ। यह चेलना जरूर व्यभिचारिणी है।' शयनागार से सम्राट बाहर निकल आया। उसने अपने बेटे से कहा, 'अभयकुमार! इस राजमहल को आग लगा दे, अभी, इसी क्षण।' अभयकुमार ने सोचा, सम्राट पिता को क्या हो गया। भीतर मेरी मां महारानी चेलना हैं, लेकिन पिता का आदेश! पिता जो सम्राट भी है आदेश मानना

अनिवार्य हो गया ।

सम्राट आशंका से घिरा हुआ, आवेश में चलता हुआ सीधा महावीर के सभामंडप में पहुँचा, उद्विग्न चित्त को शांति प्रदान करने के लिए । क्योंकि राजमहल को रानी सहित जलाने का आदेश जो दिया था । सम्राट के पहुँचने पर भगवान ने कुछ शब्द कहे और बोले, “महारानी चलना धन्य है । अरे, ऐसी सती मिलनी मुश्किल है, जो रात को सोये-सोये भी मुनिजनों के लिए इतनी चिंता करती है । नींद में भी अगर उसका एक हाथ रजाई से बाहर निकल जाता है तो सोचती है हम महल में हैं, रजाई और मखमल में हैं, फिर भी हमें ठंड लगती है । उस मुनि की क्या दशा होगी जो जंगल के बीच पेड़ के नीचे खड़ा है । धन्य है चलना तेरी धर्म-श्रद्धा को । अब चौंके की बारी सम्राट की थी, भगवान यह क्या कह रहे हैं । आशंका के बादल, आशंका का कोहरा छूट गया । दौड़ पड़ा महल की ओर कि कहीं आग सही में ही न लगा दी गई हो ।

रास्ते में ही अभयकुमार मिल गया । पूछा, ‘तुमने आग तो नहीं लगा दी ?’ ‘सम्राट के आदेश का पालन करना मेरा कर्तव्य है’—अभयकुमार ने कहा । ‘यह क्या हो गया, एक सती की, अपनी महारानी की मैंने हत्या करवा दी’—राजा विलाप करने लगा । अभयकुमार ने पूछा, ‘हुआ क्या ?’ ‘गलतफहमी’—उत्तर मिला । कुमार ने कहा, ‘घबराने की कोई बात नहीं है, पिताश्री । आग को महल तक पहुँचने में अभी और वक्त लगेगा । अभी मैंने घास में आग लगवाई है, महल तक पहुँचने में थोड़ा समय लगेगा ।’

आशंका के बादल घिर आएँ तो विश्वास का आकाश ढँक जाता है । श्रद्धा का आकाश भी आवृत्त हो जाता है । इसलिए आशंका के साथ किसी भी बिंदु पर विचार मत करो, वरन् आशंका के बावजूद उसके प्रति अपने विश्वास को कम न होने दो । वैसे भी वह विश्वास ही क्या जो बात-बात में आशंका से ग्रस्त हो जाए । इसका अर्थ तो यही हुआ कि जिसके प्रति हमारा विश्वास रहा, उसकी नींव बहुत कमजोर थी, सो महल नीचे आ गया । विचार-शक्ति के साथ विश्वास-शक्ति बनी रहे, तो विचार-शक्ति मनुष्य के लिए ध्यान की कला और ध्यान का परिणाम हो जाता है ।

अन्तिम और तीसरी बात कहूँगा कि किसी भी मुद्दे, किसी भी बात, किसी भी मद्द्द के लिए कोई आग्रह न हो । जैसे ही तुमने किसी बात का आग्रह किया कि स्पष्ट हो गया कि तुम किसी एक विचार को पकड़कर बैठ गए । चाहे कोई मत हो या मजहब, किताब या व्यक्ति या गुरु ही क्यों न हो, उसे पकड़कर मत बैठो । किसी भी प्रकार का आग्रह नहीं । गुण-ग्राहिता हो । सत्य का भी आग्रह नहीं होना चाहिए । सत्य तो ग्रहण

होना चाहिए, सत्य स्वीकार होना चाहिए। जहाँ भी आग्रह होगा, वहाँ महावीर का अनेकान्त और स्याद्वाद खंडित होगा। आग्रह से नया पक्ष और नया वाद जुड़ेगा। कोई भी आग्रह सापेक्ष हो सकता है, निरपेक्ष नहीं। कुंदकुंद ने कहा 'सव्वणय पक्ख रहिदो भणिदो जो सो समयसारो।' उन्होंने समयसार नामक अद्भुत और अनूठा ग्रंथ लिखा था। जब उनसे पूछा गया कि क्या है यह समयसार? सार क्या है 'समयसार' का? तब कुंदकुंद ने यह पंक्ति कही कि जो सारे नये पक्षों से, मत-मतान्तरों से रहित है, वही समयसार है। और जो समयसार है, वही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान है।

सत्य का भला आग्रह! आग्रह करने से तो सत्य भी अवरुद्ध हो जाता है। सत्य का तो ग्रहण होना चाहिए, सत्याग्रह नहीं। सत्याग्रह तो राजनीति है। सत्य-ग्रहण साधना है।

महावीर ने दृष्टान्त दिया है—एक हाथी, छह अंधे। अंधापन क्या है, अपनी आँखों पर आग्रह की पट्टी बाँध लेना। हाथी सत्य का प्रतीक है, अंधापन आग्रह-कदाग्रह का। जिस अंधे के हाथ जो चीज लगेगी, वह उसी को सत्य मानेगा। जिसे हाथी की पूँछ हाथ लगी, वह कहेगा हाथी रस्से जैसा है। जिसे पाँव हाथ लगेगा, वह कहेगा हाथी खंबे जैसा है। जिसे सूँड हाथ लगेगी वह कहेगा हाथी अजगर जैसा है और जिसे कान हाथ लगा, उसने कहा, हाथी पंखी जैसा है।

आप ध्यान दें इस बात पर कि सभी की बात क्या गलत है? नहीं, सभी की बात सही है, पर सभी का सत्य अधूरा है। सबकी बातों को सम्मिलित कर दें, तो पूर्ण सत्य विकसित हो जाएगा।

आग्रह-कदाग्रह की दृष्टि छूटनी चाहिए। गुणग्राहिता की भावना हृदय में स्थापित हो जाए। कोई भी शत-प्रतिशत पूर्ण नहीं होता, लेकिन गुणग्राहिता होने पर तुम अवगुणी में भी गुण खोज निकालोगे और कुछ ग्रहण कर ही लोगे। अन्यथा आग्रह रखने पर नब्बे गुण ठुकरा दोगे और दस अवगुणों पर ध्यान केन्द्रित हो जाएगा।

विचार शक्ति ध्यान की शक्ति बन जाए और ध्यान की शक्ति जीवन की शक्ति बन जाए। विचार-शक्ति आपके जीवन की मूल प्रेरिका बन जाए, जीवन की आधारशिला बन जाए। यहाँ हम ध्यान का प्रारम्भिक पाठ सीख रहे हैं। असली ध्यान तो घर में, जीवन में, वाणी में, व्यवहार में, सबमें ध्यान की कसौटी होगी। वह ध्यान ही क्या, जो हमारे व्यवहार को बदल न पाए। वह ध्यान ही कहाँ, जो जीवन का व्यवहार

न बन पाए । जो जीवन की परछाई न बन पाए ।

यहाँ उपस्थित साधकों में एक पचासी वर्षीय वृद्ध भी बैठे हैं—ये हैं श्री शांतिचंद्र भंडारी । बड़े देव-पुरुष हैं । भारत भर के विवेकानंद केन्द्र संचालित करते हैं, अध्यक्ष हैं । कुछ दिन पूर्व इनके अठारह वर्षीय पौत्र का देहान्त हो गया । एक ही बेटा, उसके भी एक ही लड़का, देह छोड़ गया, वह भी दुर्घटना में । हम इनके घर पहुँचे और पहुँचते ही इन्होंने जो सुकून दिया, वह जानने जैसा है । घर में मृत्यु हो जाए और गुरु वहाँ पहुँचे तो शिष्य का क्या जवाब होता है, वह जीने जैसा है । इन्होंने कहा, 'पधारो, आनन्द आ गया ।' घर में शोक का वातावरण, सभी सदस्य रो रहे हैं और यह साधक कहते हैं, "आनन्द आ गया, मृत्यु की वेला में कोई निर्वाण का गीत और संगीत सुनाने पहुँच गया ।' मैंने आँखें बंद की और इस साधक की आत्मा को प्रणाम किया । हृदय ने कहा, साधक हो तो ऐसा । जीवन का बोध हो तो ऐसा । यह घर में जरूर रह रहा है, लेकिन संत हो गया, गृहस्थ-संत ! मैंने पूछा, आपके पोते का नाम क्या था, कहने लगे, सिद्धार्थ था और वह सिद्ध हो गया ।

मृत्यु की वेला में भी कितनी सहज शांति ! कितना सहज मौन-भाव ! मैं इस स्थिति को जीवन का वरदान कहूँगा । यह अमृत स्थिति है, भगवान करे जब हमारी भी देह छूटे, तो हम ध्यान में हों, अन्तर-ध्यान में । देह छूट जाए और हम मुक्त हो जाएँ । माटी, माटी में बिखर जाए और ज्योति, परम ज्योतिर्मय हो जाए ।

जब तक सशरीर रहें, आनन्द मग्न रहें । धरती पर जिएँ, तो अपनी ओर से खिले हुए फूल की तरह प्रमोद-भाव से प्रमुदित रहें और अपनी ओर से धरती पर ऐसे ही फूलों की प्रभावना करें । तुम अपने मालिक बनकर जिओ, अपने विचारों के मालिक, मन और इन्द्रियों के मालिक, अन्तरात्मा के मालिक । अच्छाइयाँ ग्रहण करो और अच्छाइयाँ बाँटो । तुम मंदिर के अखंड दीप बनो कि तुम्हारी रोशनी ही तुम्हारा व्यक्तित्व बन जाए और तुम्हारी रोशनी ही भगवान की पूजा ।

बुद्ध का वचन है अप्य दीपो भव । तुम अपने दीप खुद बनो । मैं हूँ, मेरा महत्त्व है, पर तुम्हारे लिए मुझसे ज्यादा तुम्हारा महत्त्व है । तुम अपने आपको महत्त्व दो, ताकि तुम्हारी आन्तरिक महिमा उजागर हो ।

आज इतना ही निवेदन है ।

नमस्कार ।



साक्षीभाव ही साधना का गुर

मेरे प्रिय आत्मन्,

ध्यान एक प्रयोग है और ध्यान-शिविर प्रयोगशाला। प्रयोग के धरातल पर ही विज्ञान का जन्म होता है। प्रयोग ही धर्म को जीवित करता है। धर्म यदि प्रयोगधर्मी हो जाए तो वह महज धर्म नहीं रहता, अपितु विज्ञान बन जाता है। विज्ञान धर्म के साथ सामंजस्य कर ले, तो वह विश्व के लिए अद्भुत वरदान हो सकता है। धर्म और विज्ञान-दोनों का हाथ एक हो जाए, तो व्यक्ति और विश्व के कायाकल्प के लिए यह सबसे बड़ा चमत्कारी साधन बन जाएगा। दिक्कत यह है कि धर्म के हाथ से प्रयोग छूट गया है और विज्ञान धर्म से विलग हो गया है। परिणामतः विज्ञान भी निरंकुश हो गया है और धर्म भी महज रूढ़िगत होकर अर्थहीन हो रहा है।

धर्म मनुष्य को यह विज्ञान देता है कि स्वर्ग और नरक दोनों मनुष्य के साथ ही चलते हैं। क्रोध और प्रेम दोनों मनुष्य के अन्तर्मन में रहते हैं। पीड़ा और आनन्द की संवेदनाओं का संवाहक स्वयं मनुष्य है। धर्म के संदेश तब तक सार्थक नहीं हैं जब तक उनका प्रयोग नहीं होता है। प्रयोग से ही धर्म के धरातल पर विज्ञान का जन्म होता है। प्रयोगों से ही धर्म मनुष्य को आत्मसात् होता है। धर्म रक्षक ही तब बनता है जब वह स्वयं प्रयोग हो जाए। धर्म कहता है तुम सभी से प्रेम करो, मगर कैसे ? जबकि मन परिवार की संकीर्णता में ही उलझा रहता है ऐसी स्थिति में प्रेम का प्रयोग क्या होगा ?

धर्म ने कहा तुम बदी से बचो, पर कैसे ? केवल पुस्तकों में लिख देने से व्यक्ति बदी और बुराई से बच जाएगा ? क्रोध करना गलत है, क्या इतना कह देने से किसी का क्रोध छूट जाएगा ? संसार नश्वर है - यह लिख देने से क्या कोई संसार छोड़कर संन्यासी बन जाएगा ? क्रोध छोड़ो—यह कहना पर्याप्त नहीं है । क्रोध कैसे छोड़ा जाए हमें इसका प्रयोग चाहिए । काम-भोग दुःखप्रद हैं, यह कह देने से काम-भोग नहीं छूटते । इनसे किस तरह छूटें कि इनकी भड़ास मन में न उठे, इसका प्रयोग चाहिए । कोई भी लत या दुर्व्यसन जीवन के लिए जहर है, या अफीम पीना स्वयं की जिंदगी को ही घी जाना है— इतना कह देने से धर्म मात्र व्यसन-मुक्ति का नारा हो जाएगा । धर्म जीवन का आचरण नहीं बन पाएगा । धर्म कोई नारा नहीं है । कुछ अच्छी बातों के प्रचार से या विज्ञापन से धर्म जीवित नहीं होता । धर्म कोई राजनीतिक दल है, जो आज है और कल नहीं होगा ? धर्म तो चिरंतन है, अस्तित्व का अवधारण ।

आज हमारा धर्म जीवन-सापेक्ष नहीं बन पाया, क्योंकि धर्म के पास ज्ञान की सम्पदा थी, मार्ग था, लेकिन प्रयोग नहीं था । पिछले पच्चीस सौ वर्षों से, यह धर्म का दुर्भाग्य रहा कि वह प्रयोग से वंचित रहा । धर्म की यह विडम्बना रही कि धर्म को प्रयोग नहीं मिला । इसलिए वह जीवन का विज्ञान नहीं बन पाया । धर्म संतों, पंथों और ग्रन्थों में बँट गया । वह मनुष्य का नहीं हो पाया । शान्त, सौम्य, वातावरण में रहकर और गुरु-चरणों में बैठकर किया गया ध्यान वह प्रयोग है जो धर्म को पुनर्जीवित करता है । ध्यान प्रयोग देता है कि व्यक्ति धीरे-धीरे अपने मन की अनर्गलताओं से, मन की चंचलताओं और क्षुद्रताओं से कैसे ऊपर उठे । जरूरी है केवल एकनिष्ठ होकर प्रयोग करने की, ध्यान की गहराई में उतरने की । यह ध्यान-शिविर विशुद्ध रूप से धर्म की प्रयोगशाला है । चाहें तो इसे जीवन-रूपान्तरण की प्रयोगशाला कह सकते हैं ।

मैंने देखा है लोग सत्संग में जाते हैं, प्रवचन सुनते हैं और कपड़ों की तरह वचन भी वहीं झाड़कर चले आते हैं । न मूर्च्छा टूटती है न मोह, न क्रोध छूटता है न विरोध । वैदिक काल में जीवन की एक व्यवस्था थी । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास - जीवन में लयबद्धता थी । आज मनुष्य के पास न उस व्यवस्था के प्रति सजगता है और न जीवन जीने के वे सूत्र । चारों आश्रमों में से किसी की व्यवस्था न रही । आज तो चौदह वर्षीय बालक से कहो कि यह प्रतिज्ञा पत्र पढ़ो कि इस देश में रहने वाले सभी लड़के-लड़कियाँ मेरे भाई-बहन हैं । वह कहने से पढ़ तो जाएगा, पर धीरे से यह कहकर कि एक को छोड़कर ।

प्राचीन समय में यह व्यवस्था थी कि पच्चीस वर्ष की उम्र तक ब्रह्मचर्य स्वयं पालित हो जाता था और पचास वर्ष के होने पर स्वतः ही वानप्रस्थ की प्रेरणा हो जाती थी। केवल सामान्य जन ही नहीं, अपितु राजा-महाराजा भी वानप्रस्थ के लिए महल छोड़ देते थे। राज-महलों की घटनाएँ भी कभी मन को सुलगा देतीं और वानप्रस्थ घटित हो जाता। आज तो मानो मनुष्य संवेदना-शून्य हो गया है। कहीं कुछ घटता नजर ही नहीं आता। अपने घर के द्वार से भले ही किसी स्वजन की अर्थी निकले, तब भी जीवन में परिवर्तन की संभावना क्षीण है, तब भी जीवन का अर्थ समझ में नहीं आता। लेकिन तब व्यवस्था के तहत वानप्रस्थ स्वतः हो ही जाता और वानप्रस्थ जीवन के कदम खुद-ब-खुद संन्यास की ओर बढ़ जाते। कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता था। और आज जब आदमी की औसत उम्र छोटी हो गई है, हम गृहस्थाश्रम में ही लिप्त रहते हैं। उम्र कब पूर्ण हो जाती है, हम जान ही नहीं पाते। हमारी सारी व्यवस्थाएँ ध्वस्त हो गई हैं। आज अगर औसत आयु सत्तर वर्ष मान ली जाए और अठारह वर्ष की आयु में जब दुनियादारी की समझ आ जाए तो पैंतीस की उम्र में तो वानप्रस्थ की तैयारी कर ली जानी चाहिए। दुनिया के लिए जो करना था, कर चुके। अब आयु का तकाजा है कि आत्म-श्रम और आत्म-मुक्ति के लिए जिएँ। मृत्यु तुम्हें मार सके इसके पहले जीवन-जगत की आसक्ति से ऊपर हो, मृत्यु को जीत लें। मृत्यु जीवन को समाप्त करे, इसके पूर्व ही मुक्ति को उपलब्ध कर सकें तो बेहतर है। काया नश्वर हो, उससे पहले अनश्वर हो जाएँ, तो ही धन्यभागिता है।

प्राचीन समय में एक जीवन-शैली थी, आत्मिक मूल्य थे, जीवन के सिद्धान्त थे, आज सभी तो समाप्त प्रायः हैं। हाँ, अगर कुछ है तो वह केवल पुस्तकों में बंद है, लेकिन पुस्तकें क्रियान्वित हो रहे सिद्धान्त नहीं हैं। सिद्धान्तों की अनुपस्थिति ने जीवन को पंगु बना दिया है। कहने को तो आज का मनुष्य प्रबुद्ध और बौद्धिक है, लेकिन आत्मिक आरोग्य के प्रयोग से अछूता है। रात को भोजन नहीं करना है यह याद तो है, लेकिन क्यों नहीं करना है इस विज्ञान को समझने की आवश्यकता है। धर्म और विज्ञान के मध्य, प्रयोग और अभ्यास के बीच मैत्री-सामंजस्य स्थापित होना ही चाहिए। ध्यान के प्रयोगों से गुजरने पर क्रोध का तापमान स्वयं ही कम हो जाएगा। तब कहना न होगा कि क्रोध छोड़ो, मान छोड़ो, राग छोड़ो, द्वेष छोड़ो। ध्यान-योग तन-मन में छिपी ग्रंथियों को खोल देगा और हम खुद उनकी निर्जरा होते हुए देखेंगे। तब कहना न पड़ेगा कि धर्म करो, तब धर्म स्वतः आचरित होगा, जीवन से धर्म का उन्नयन होगा। हम स्वतः पशुता के पाश से मुक्त होंगे और जीवन में प्रभुता का पदार्पण होगा।

मनुष्य अपने जीवन और मन के बारे में कितना कम जानता है। धर्मशास्त्रों की प्रेरणा है कि हम बुराइयों को, असद् वृत्तियों को छोड़ दें। लेकिन क्या छोड़ पाते हैं? क्यों नहीं छोड़ पाते हैं? क्योंकि मन की उच्छृंखलता, अन्तर्मन का दोगलापन हमें छोड़ने नहीं देता। मनुष्य के अचेतन मन में कितना कुछ छिपा पड़ा है। ज्ञान हमें किस मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है और अचेतन मन हमें किस गर्त की ओर धकेल रहा है। ओह, जिसे हम पुण्यात्मा कह जाते हैं, वह मन का कितना पापी है, कहा नहीं जा सकता। इसलिए जब जीसस के समक्ष व्यभिचार के आरोप में महिला को दंड देने हेतु प्रस्तुत किया गया, तब जीसस ने यही कहा था कि वह व्यक्ति पहला पत्थर मारे जिसने जीवन में कभी मन में भी पाप न किया हो। बाहर के पाप-पुण्य तो दिखाई दे जाते हैं, लेकिन मन में छिपे हुए पापों का आकलन कैसे हो? ऐसा कौन है जिसने मन में भी पाप न किया हो। हो सकता है हमने माता-पिता को अपशब्द न कहे हों, पर हम नहीं कह सकते कि हमने उन पर मन में भी आक्रोश नहीं किया हो। मन में तो किया है, प्रगट न कर पाए यह व्यक्ति की विवशता या शालीनता हो सकती है।

ओह, व्यक्ति अपने मन के बारे में बहुत कम जानता है। वह धर्म के द्वार पर आकर भी रीता ही रह जाता है। उसकी क्रियान्वितियाँ राख पर किया गया लेपन भर हो जाता है। जीवन भर सामायिक करने के बाद भी व्यक्ति के जीवन में कहीं समता के दर्शन नहीं होते। अन्तःकरण में सामायिक घटित होती ही नहीं। एक स्थान पर आसन लगा लेने से सामायिक नहीं होती। शायद इसी सामायिक को देखकर भगवान महावीर ने श्रेणिक से कहा था, 'एक सामायिक तुम पूर्णिया श्रावक से खरीद लाओ, तुम्हारी नरक टल जाएगी।' अगर सामायिक खरीद-फरोख्त की वस्तु होती तो मैं ही भेंट स्वरूप देता सैकड़ों सामायिक। अगर किसी आसन पर बैठकर की जाने वाली सामायिक खरीदी-बेची जा सकती, तो दुनिया में केवल इसी का व्यापार चलता। और जैसे आजकल जैनों में सपनों के चढ़ावे चढ़ाए जाते हैं, वैसे केवल सामायिक खरीदने-बेचने के चढ़ावे होते। क्योंकि इतना कर लेने भर से नरकें टल रही थीं। लेकिन कुछ न हुआ। मनुष्य अपनी मन की तहों तक पहुँचा ही नहीं। सामायिक का स्वरूप आत्मसात हुआ ही नहीं। समता हासिल न हुई, विषमता से विरति न हुई। इसलिए, क्योंकि हम मूल तक पहुँचने में समर्थ न हुए। हम बालक की तरह सरोवर में ही चाँद के प्रतिबिम्ब को चाँद मानते रहे।

एक बालक से कहा गया तुम इतने रुग्ण हो, तुम्हें इतने रोग सता रहे हैं, तुम रोगों को छोड़ क्यों नहीं देते। बालक हँसा, वह हँसा डॉक्टर पर, वह हँसा हम सब पर

कि क्या रोगों को छोड़ना उसके बस में है ? ठीक यही बात जीवन पर लागू होती है कि क्या असद् वृत्तियों और प्रवृत्तियों को पलक झपकते छोड़ देना हमारे हाथ में है ? किसी के कहने से क्या कोई क्रोध छोड़ता है, संसार छोड़ता है, मोह माया ममता छूटती है किसी से ? भीतर की तह तक पहुँचे बगैर असत् से मुक्ति नहीं है, जहाँ कि असत् की, तमस् की परतें जमी हैं। हमारी दुविधा यह है कि हम चेतन मन के बारे में तो फिर भी कुछ-न-कुछ जानते हैं, लेकिन अवचेतन और अचेतन मन, भीतर छिपे हुए चित्त के बारे में, जिस पर कालिख जमी हुई है, कचरा पड़ा है, उसके बारे में हम अनभिज्ञ हैं। यह चित्त मनुष्य को बार-बार उन्हीं संवेगों में, उद्वेगों में, उत्तेजनाओं में, उन्हीं वृत्तियों में बहाकर ले जाता है। व्यक्ति मन के बहाव में, मन के बहकावे में उग्र भर बहता चला जाता है। मेरे देखे, मन की स्थिरता ही ध्यान है। चित्त की निर्मलता ही परम आनन्द की आधारशिला है। चित्त के संस्कारों और दमित वृत्तियों से मुक्त और निरपेक्ष हो जाने वाला ही सच्ची सुखशांति का स्वामी बनता है।

मैं उन सभी धार्मिक लोगों से विनम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि जब तक हमारी अन्तर्-ग्रंथियों की चूलें न हिलेंगी, हमारे व्रत, उपवास, पूजा-पाठ के नियम व्यर्थ हो जाएँगे। ऊपर से कभी दो उपवास कर लो, दो पत्ते पेड़ के टूट भी गए तो क्या फर्क पड़ा। ऊपर से कभी दो घंटे मौन का संकल्प भी ले लो, एक डाली पेड़ से तोड़ लो कोई फर्क न पड़ेगा। जब तक जड़ों तक नहीं पहुँचेंगे, जब तक बीज तक नहीं पहुँचेंगे, तब तक रोज-ब-रोज तोड़े हुए पत्तों का कोई अर्थ न होगा, ये पत्ते फिर-फिर लग जाएँगे। कभी क्रोध का पत्ता, कभी विकार का पत्ता, कभी अहंकार का पत्ता, ये फिर-फिर उग जाएँगे। फल अगर कड़वा है तो जड़ें भी कड़वी होंगी। मधुर फल पाने के लिए जड़ों का मधुर होना जरूरी है।

एक व्यक्ति रेगिस्तान से गुजर रहा था। भूख लग आई थी। पास में खाने को कुछ न था। तभी उसे एक वृक्ष दिखाई दिया। उसने सोचा चलो इसके पत्तों को खाकर ही अपनी क्षुधा शांत कर लेता हूँ। वह वृक्ष के पास पहुँचा, कुछ पत्ते तोड़े और चबाने लगा, पर तुरंत ही थूक दिया, क्योंकि पत्ते कड़वे थे। उसने डाली तोड़कर रस चूसने का प्रयास किया, लेकिन वह तो पत्तों से अधिक कड़वी थी। उसने फल को तोड़कर खाया, लेकिन यह तो जीभ पर भी न रखा जा सका, इतना कड़वा ! उसने सोचा जरूर इसकी जड़ें भी कड़वी होंगी। उसने पेड़ उखाड़ डाला, जड़ों में जहर घुला हुआ था। जहाँ जड़ों में ही कड़वापन है, वहाँ उन जड़ों से निकलने वाली हर शाखा, हर पत्ता, हर फूल, हर फल कड़वा ही होगा।

हमारे जीवन में भी किसी प्रकार की कमी है, किसी तरह की विकृति या असद तत्त्व है तो दोष उन जड़ों तक जाएगा जिन्हें हिलाए बिना, जिन्हें मिटाए बिना, जिन्हें तोड़े बिना जीवन का विष और कालुष्य तिरोहित नहीं हो सकता। जिन्हें यह मूल बात समझ में आ गई, उनके जीवन में अध्यात्म की शुरुआत हो गई। उनके जीवन में अध्यात्म की अभीप्सा की लौ सुलग गई, वह जाग गया। जागृत चेतना का व्यक्ति जो करेगा, धर्म उसकी छाया होगी। वह जैसे चलेगा, धर्म उसका आचरण होगा।

प्रायड ने एक प्यारी-सी कहानी कही है कि एक ग्रामीण व्यक्ति शहर में पहुँचा और एक खूबसूरत होटल में ठहरा। मन में बहुत खुश था कि आज तो चैन की नींद मिलेगी। आराम से सोऊँगा, सुबह देर तक सोया रहूँगा। गाँव में तो सुबह जल्दी उठना पडता है, यहाँ तो कुछ काम भी नहीं है। गाँव की बातें सोचते-सोचते रात घिर आई, नींद भी आने लगी और वह बिस्तर पर लेटा। लेकिन पाया कि कमरे में बहुत रोशनी है और इतने उजाले में तो वह सो नहीं सकता। वह उठा और रोशनी के पास पहुँचकर रोशनी को फूँक लगाई कि रोशनी बुझ जाए। रोशनी नहीं बुझी, उसने फिर जोरदार फूँक लगाई, पर बेकार। बहुत देर तक फूँकों से रोशनी बुझाने की कोशिश की, लेकिन सब निरर्थक, रोशनी बुझने का नाम ही न लेती थी। लालटेन और दीपक फूँक से बुझाने का अभ्यासी था, सो फूँक लगाता रहा, पर रोशनी न बुझनी थी, सो नहीं ही बुझी। सुबह होते ही होटल मैनेजर के पास पहुँचा और शिकायत की कि यह कैसी रोशनी थी जो सैकड़ों फूँक लगाने के बाद भी नहीं बुझी। रात भर करवटें बदलता रहा, एक पल को भी न सो सका। मैनेजर समझ गया। बोला, महानुभाव यह दीपक नहीं विद्युत का बल्ब है। यह फूँकों से नहीं, योग्य तरीके से बुझता है। फूँक तो बेअसर रहेंगी ही।

इस घटना को हम अपने जीवन के साथ जोड़ें कि क्या हवाई फूँकों से दावानल बुझता है? क्या कोरे क्रियाकांडों से अन्तरहृदय का रूपान्तरण होता है? विकारों से मुक्ति हो सकेगी? जिससे चित्त में सौम्यता, सौमनस्यता, सौहार्दता आती है, वही मार्ग धर्म है, महज फूँकों के द्वारा जीवन में परिवर्तन नहीं होगा। योग्य माध्यम चाहिए, योग्य तरीका, योग्य विधि चाहिए स्वयं के अन्तःकरण में प्रवेश पाने के लिए। योग्य वैज्ञानिक विधि/मार्ग से भीतर उतरकर ही हम अचेतन मन का परिमार्जन कर सकते हैं। संबोधि-ध्यान अन्तःकरण में उतरने का ही उपक्रम है। धीरे-धीरे ही सही, हम उन तलों तक पहुँच जाएँगे, उन जड़ों तक पहुँच जाएँगे जहाँ असद् प्रवृत्तियों का साया जमा हुआ है। हम सभी ध्यान के योग्य मार्ग के द्वारा, योग्य तरीके के द्वारा अपने अन्तःकरण में प्रवेश के साथ अपने भीतर छिपे हुए असत् तत्त्वों को पहचानें, उनसे अलग होने का दृढ़

निश्चय करें ।

हम सजग हों, जागृत हों अपने सच्चे स्वरूप के प्रति । हम अन्तर्मन में झाँकें । भीतर जो भी हो, जैसा भी हो, आखिर हमारा अपना है । अपने से कैसा बचना । अपने से क्या छिपना । अपने से कब तक पलायन किए रहोगे । अपने प्रति प्रामाणिक बनकर ही हम अपनी स्वस्ति-मुक्ति को साध सकते हैं । हम जैसे भी हैं, स्वयं के सामने प्रस्तुत हो जाएँ । भीतर के चेहरे और बाहर के चेहरे को एक बार आमने-सामने आ ही जाने दें । भीड़ से हटकर हमारे भीतर जो 'व्यक्ति' है, उस व्यक्ति को तलाशें । उस व्यक्ति से मुखातिब हों । एक साक्षात्कार हो अपने साथ, अपने आप से । अपने अन्तर्बोध को हम उजागर होने दें ।

हाँ, मैं जानता हूँ अन्तर-आनन्द का कैसा स्वाद है, उसका कैसा प्रकाश है, उसकी कैसी सुवास है । एक अखंड अलमस्ती । एक अखंड शांति । एक अखंड तृप्ति । एक अखंड मुक्ति । एक गहरा मौन । एक गहरा प्रेम । एक अनेरी करुणा । एक अनेरा अहोभाव । अस्तित्व का बरसता आशीष । हम ध्यान के धरातल पर उतर जाएँ, तो हमारा हृदय हमें प्रेम और मेत्री के नानाविध सूत्र देगा । पहाड़ों, नदियों, बादलों, फूलों, सितारों—सबसे मैत्री । हमारा हृदय हर ओर से समृद्ध होता जाएगा । हम सारी सृष्टि के होते जाएँगे । हम व्यक्ति होकर भी सारे विश्व के हो जाएँगे । हमारी गोद में, हमारे आँचल में सारा विश्व होगा ।

'ध्यान' महज एक शब्द है, पर ध्यान और जीवन के अन्तर-रहस्यों में तुम वास्तव में डुबकी लगा लो, तो तुम बुद्धों के चरणों में समर्पित हो जाने वाले बुद्धत्व के कमल हुए । तुम साक्षी भर हो जाओ । साक्षित्व, ध्यान का तो प्राण है । विपश्यना को आत्मसात करने का गुर ही साक्षी-भाव है । संबोधि-जनित जीवन की शुरुआत करने के लिए, चित्त के संस्कार से उपरत होने के लिए साधक साक्षी भर हो जाए । भीतर के रोग, भीतर का कोहरा स्वतः छूटेगा । बाहर के निमित्त स्वतः निष्प्रभावी होंगे ।

अन्तरात्मा में उतरने के लिए साक्षित्व को हम आत्मा ही जानें । साक्षित्व को ध्यान का मेरुदंड मानें । संस्कार चाहे तन का उठे या मन का, बस उसके साक्षी भर रहो । जो उठे, उठे । जो होना हो, हो जाए, हम केवल द्रष्टा भर रहें । सहज शान्त, सहज विश्राम में । यह बोध धीरे-धीरे आत्मसात् होगा । पहले ध्यान में उतरो, तो ऐसा बोध रहे । फिर कर्म करते हुए । शाम को अपने लॉन में बैठे हो, तब भी यह बोध बना रहे । धीरे-धीरे यह बोध गहरा होता जाए । दिन में ही नहीं, रात को सोए हुए भी । चलो तो इस अहसास

के साथ कि शरीर चल रहा है, मैं नहीं। मैं.... चलते हुए.... शरीर का साक्षी भर। शरीर सो रहा है, मैं जागृति में उतर रहा हूँ। शरीर सो जाएगा.... तुम विदेह हो जाओगे।

साक्षित्व से शुरुआत। शून्य होता जाए केन्द्र, क्रियाएँ हो जाए परिधि। तुम शून्य भर होते जाओ। एक दिन शून्य भर उठेगा- तुम्हारे अपने ही सच्चे स्वरूप से, अस्तित्व के उपहार से। तुम अस्तित्व की विराटता के साथ एकाकार होते जाओगे।

ध्यान क्या है, इस बारे में हम संत होतेई की एक घटना को समझें। संत होतेई ज्ञेन-परम्परा का बड़ा प्रसिद्ध संत-पुरुष। कहते हैं उसकी मूर्ति अभी भी अमेरिका में, चाइना टाउन में लगी हुई है।

होतेई नहीं चाहता था कि लोग उसे ज्ञेन गुरु के नाम से पुकारे या उसके पास उसके अनुयायियों और शिष्यों की भीड़ हो। बस, वह तो अपने कंधे पर एक थैला लटका लेता और उस ओर निकल पड़ता, जिस ओर बच्चे खेलते रहते। उसके थैले में कुछ फल, खट्टी-मीठी गोलियाँ, कैंडी-चॉकलेट आदि रहते, जिसे वह बच्चों को बाँटा करता।

होतेई को जिसने भी देखा, पाया कि होतेई हर क्षण हँसता-मुस्कुराता रहता। लोग तो उसे हँसता हुआ बुद्ध ही कहते। चाइनीज व्यापारियों में वह 'हैप्पी चाइनामैन' के नाम से मशहूर था। एक बार, होतेई जब रास्ते पर चल रहा था कि एक प्रबुद्ध व्यक्ति ने उससे पूछा, व्हाट इज दा सिग्निफिकेंस ऑफ ज्ञेन ? ज्ञेन (ध्यान) का क्या तात्पर्य है ? होतेई ने तत्काल अपने कंधे पर लटका थैला जमीन पर उलटा कर दिया। और यही उसका मौन उत्तर था।

आगंतुक ने कहा, हूँह...। उसने पूछा, व्हाट इज दा एक्चुअलाइजेशन ऑफ ज्ञेन ? ज्ञेन (ध्यान) की वास्तविकता क्या है ?

'हैप्पी चाइनामैन' ने तुरंत थैले को कंधे पर लटकाया और अपने रास्ते पर चल पड़ा। उसकी ओर से दूसरे प्रश्न का यही उत्तर था।

क्या हम कुछ समझे कि ध्यान क्या है ? स्वयं को खाली कर देने का नाम ही ध्यान है और यही ज्ञेन। शून्य होने का नाम ही ध्यान है। अक्रिया में, दृष्टाभाव में अवस्थित हो जाना ही ध्यान है। ध्यान का संदेश इतना ही है कि अन्तर्दृष्टि को उपलब्ध होओ और फिर संसार में प्रवेश कर जाओ। तुम्हारा हर कदम संन्यास का होगा। तुम्हारे

कदम समाधिस्थ और आत्मवान् पुरुष के कदम होंगे ।

आओ, हम पहरा लगाएँ स्वयं का । जैसे हम औरों को देखते हैं, बगीचे में खिले फूलों को, आकाश में चमक रहे तारों को, सागर में उठती लहरों को, ऐसे ही देखें स्वयं को । शरीर में उठ रही राग-द्वेष जनित संवेदनाओं को, मन में उठ रही हिलोरों को । तुम साँस पर, साँसों में निहित प्राणों पर स्वयं की जागरूकता गहरी करो । भीतर विचार-विकल्प-कल्पना-स्मृति उठे, उसके प्रति सजगता गहरी करो । उसमें बहो मत, केवल सजगता..... केवल मौन..... विश्रामपूर्ण सजगता । धीरे-धीरे तुम पाओगे शरीर में शांति का प्रसार हुआ । भीतर के सागर में, भीतर के आकाश में सहजता और सौम्यता साकार हुई । एक अपूर्व स्वरूप की अनुभूति हुई । मानो आकाश में इन्द्रधनुष उग आया । बिन मौसम के मेघ बरसे । बगिया में मोर-पपीहा बोले । मरुभूमि में मरूद्यान महका ।

भीतर की शांति ज्यों-ज्यों गहरी गंभीर होती जाती है, शून्य साकार होता चला जाता है । हम एक तुरीय आनन्द से भरते चले जाते हैं । हम पाते हैं तब अपने में बुद्धत्व का बोध, संबोधि और समाधि का रसीला रसास्वादन ।

आह, शब्द मौन होना चाहते हैं । डूबना-उतरना चाहते हैं मौन में, निःशब्द में । ध्यान में उतरें ।

.....मौन ही ठीक है ।



ध्यान वही, जो घटे जीवन में

मेरे प्रिय आत्मन्,

ध्यान भारतीय मनीषा का मानव जाति को मिला हुआ एक अनमोल उपहार है। जब भी मनुष्य भोगमूलक संसार से उकता जाता है, तो निर्वाणमूलक संसार की ओर उसका अभिनिष्क्रमण होने लगता है। व्यक्ति संसार को जीकर संसार से विमुख होता है और संसार को जीकर ही संसार की ओर अभिमुख भी होता है। गिरते तो दोनों ही गड्डे में हैं।

चर्चित कहानी कहती है कि सम्राट ने कहा था, मैं अमृत के गड्डे में गिरा था और वजीरे आला ! तुम कीचड़ के गड्डे में गिरे थे। एक मनुष्य स्वयं को अमृतमय मानता है और दूसरे को कीचड़ के गड्डे में गिरा हुआ देखता है, लेकिन जिसकी दृष्टि आकाश की ओर उठ जाती है, वह चाहे कीचड़ के गड्डे में गिरे, पर जब भी आस्वादन करेगा अमृत का रसास्वादन करेगा। और तब बीरबल ने भी अकबर से यही कहा था सम्राट, अवश्य ही आपने सपना देखा था कि मैं कीचड़ के गड्डे में गिरा था और आप अमृत के गड्डे में गिरे थे, पर हकीकत यह है कि मेरे सपने में जब हम दोनों गड्डे से बाहर निकले, तो मैं आपको चाट रहा था और आप मुझे।

अमृत के कुंड में पैदा होकर मनुष्य कीचड़ को चाटता है और संभव है कि कीचड़ में उत्पन्न व्यक्ति अमृत-पथ का अनुसरण कर ले। व्यक्ति का अमृतवाही होना

या विषयायी, यह तो मनुष्य की अपनी अन्तरदृष्टि पर ही निर्भर करता है ।

व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण या शूद्र नहीं होता । जन्म से मनुष्य, केवल मनुष्य होता है । वह जैसा जीवनयापन करता है, उसी के अनुरूप ब्राह्मण या शूद्र बनता है । तुम उसे ब्राह्मण कैसे कहोगे जिसके कर्म शूद्र के हैं और उसे शूद्र कैसे कहोगे जिसका दिया भले ही माटी का हो, पर उसका जीवन ज्योतिर्मय है । उस स्वर्ण दीप का क्या करें, जिन दिव्यों में बाती जगमगाती न हो । ऐसे स्वर्ण दीप केवल अलमारी में रखने के काम आते हैं । दैदीप्यमान दीप अलमारी में नहीं, देहरी और मुंडेरों पर सुशोभित होते हैं । दुनिया में ऐसे दिव्यों की कमी नहीं है जो अलमारियों में रखे जाते हैं और किसी मेहमान के आने पर वे दिए चाय के प्याले बन जाते हैं और फिर से अलमारी में सजा दिये जाते हैं । दीपक सोने का हो या माटी का, वही दीपक मूल्यवान है जिसमें बाती सुगबुगाती है, जो ज्योतिर्मयता का संवाहक है ।

मनुष्य का जीवन ज्योतिर्मय हो । ध्यान ज्योतिर्मयता का ही प्रयोग है । मनुष्य को ज्योति-पथ की ओर चार कदम बढ़ाने हैं । हमें सूरज की ओर अपनी नजर उठानी है । तुम अपनी दृष्टि सदा सूरज की ओर रखो, ताकि तुम्हें अपनी परछाई दिखाई न दे । तुम सत्य की ओर बढ़ो, प्रकाश की ओर; असत्य और अंधकार स्वतः तुमसे दूर होता जाएगा । एक कदम ही सही, प्रतिदिन प्रकाश की ओर अवश्य बढ़ जाए, ऐसा प्रयास हो ।

ज्योतिर्मय संघ का निर्माण ऐसे ही होता है । लोगों का समूह तो बहुत जल्दी बन सकता है, जाति और कौम का विस्तार भी हो सकता है, लेकिन वह जाति, वह कौम, वह समूह, वह समाज बनना कठिन है जिसमें हर बाती प्रकाश की लौ से संस्पर्शित हो । सौ बुझे हुए दिव्यों को एक जलता हुआ दीप जलाने की क्षमता रखता है । एक जगा हुआ व्यक्ति अपनी एक चुटकी की आवाज से सौ लोगों को जगा सकता है, लेकिन सौ सोए हुए लोग एक जागे हुए को सुला नहीं सकते ।

समाज कितना बड़ा है, यह बात मायने नहीं रखती । महत्त्व इस बात का है कि जितने लोगों का समाज है, वे लोग कैसे हैं । 'चंदन की चुटकी भली ।' चुटकी अगर चंदन की है, तो भी काफी है, बाकी तो रेगिस्तान के टीलों का क्या करें !

मैंने यदि सौ दिए भी जला दिए, तो मैं दावा कर सकता हूँ कि मानवता के अभ्युत्थान के लिए अपनी ओर से इतना काफी होगा । एक दीया सैकड़ों-हजारों दीयों

को जला सकता है, मेरी ओर से सौ दीए जल गए, तो वे सौ दीए हजारों-हजार दीयों को जागृत करने में, उन्हें चैतन्य करने में निमित्त बन जाएँगे। तुम ऐसे निमित्त बनो। सृष्टि की यह महान सेवा होगी। पृथ्वी तुम्हारी आभारी रहेगी।

हम सभी अंधकार की कोख से पैदा होते हैं, लेकिन हममें से कुछ सौभाग्यशाली होते हैं, जो प्रकाश की ओर बढ़ जाते हैं; शेष, अंधकार में ही खो जाते हैं, अंधकार की ओर ही बढ़ते रहते हैं। कुछ अच्छे वातावरण में, ऊँचे कुल में, अच्छे संस्कारों के प्रकाश में पैदा होते हैं, इसके बावजूद अपना जीवन अंधकार की ओर ले जाते हैं। कुछ की जाति-पांति का भी पता नहीं होता, पर वे महान कर्म के स्वामी हो जाते हैं। जीसस किसी ऊँचे कुल के व्यक्ति नहीं रहे, पर ऊँचा तो आदमी कुल से नहीं, अपने आप से होता है। कबीर जाति के जुलाहे, गोरा जाति के कुम्हार, रैदास जाति के मोची, गांधी जाति के वैश्य, पर वे जाति के कर्म से ऊपर उठे और अपने कर्म के बलबूते सारे विश्व के हो गये। यह दुनिया उन सिंह-पुरुषों और सत्-पुरुषों को याद करती है, उन प्रकाश-पुंजों से सदा प्रेरणा लेती है जो प्रकाश में पैदा होते हैं और प्रकाश की ओर ही बढ़ते जाते हैं। अंधकार की ओर बढ़ना सरल है, क्योंकि हम अंधकार के आदी हैं। लेकिन प्रकाश की खोज करना, प्रकाश की ओर बढ़ना कठिन है, पर यथार्थ यह है कि प्रकाश-पथ का अनुगमन करना ही जीवन की साधना है।

कल एक महाशय का पत्र था जिसे उन्होंने राजस्थान पत्रिका में मेरे एक लेख को पढ़कर लिखा है। लेख में मैंने 'मार' और 'राम' के संबंध में लिखा था। 'राम' की उलटी शब्द-संयोजना है 'मार' और 'मार' की उलटी शब्द-संयोजना है 'राम'। बौद्ध पिटकों में कामदेव को 'मार' की संज्ञा दी गई है। कहा जाता है कि बुद्ध को मार ने बहुत परेशान करना चाहा, पर अंततः बुद्ध जीत गए। मार अर्थात् काम। जो मार को मारने की हैसियत रखता है वही राम को जी सकता है। उस सज्जन ने लिखा, प्रभु! मैं राम को तो पाना चाहता हूँ, पर मार को छोड़ना नहीं चाहता। वह दो नावों पर एक साथ सवारी करना चाहता है। एक पाँव इस नाव में दूसरा पाँव दूसरी नाव में, अब वह मंझधार में नहीं डूबेगा तो क्या होगा। उसकी वही स्थिति होगी कि घर से निकला बाजार के लिए और बाजार न पहुँचा और बाजार से घर की ओर चला तो घर का पता लापता हो गया।

जीवन में एक निश्चित निर्णय होना चाहिए। तुम मार को जीना चाहते हो, उसमें रमना चाहते हो तो खूब रमो, प्रेम से रमो और जिस दिन मार से ऊब होने लग जाए, राम की ओर बढ़ जाना। आखिर कब तक संसार में लिप्त रह सकोगे। कभी तो

देख ही लगे कि कितनी बार, कितने जन्मों में इसी को दोहराया है, हर बार खुजली को खुजलाया है, फिर भी कुछ हाथ न आया, रीते-के-रीते ही रहे। मन अतृप्त रहा। जिस दिन इस रिक्तता का, निस्सारता का अहसास होगा, राम की ओर छलाँग लग ही जाएगी। मुक्ति के आकाश की ओर पंख खुल ही जाएँगे। तुम त्याग और भोग दोनों एक साथ चाहते हो, यह नहीं चलेगा। त्याग का ढोंग मत करो, तुम भोगी ही बने रहो। जब त्याग होगा तो करना नहीं पड़ेगा। भोग की अति खुद ही त्याग का मार्ग खोल देगी। वरना लोगों का संन्यास भी संसार का ही एक रूप है। बड़े मजे की बात है कि तुम संन्यास भी संसार के साथ पाना चाहते हो। संन्यास में संसार भी साधना चाहते हो। नतीजतन एक आँख मिचौली का खेल शुरू होता है। कभी दिन, कभी रात, कभी अंधकार, कभी प्रकाश, यह सब ऐसे ही चलता रहेगा, ऋतुएँ बदल जाएँगी। तुम जैसे पहले थे, वैसे ही रह जाओगे। सारी यात्रा कोल्हू के बैल की यात्रा हो जाएगी। वर्तुलाकार चलते रहे, पहुँचे कहीं नहीं।

ध्यान इस वर्तुल से निकलने का उपाय है। ध्यान अंधकार से प्रकाश की ओर यात्रा है। ध्यान उन लोगों के लिए है जो स्वयं को मूर्च्छाग्रस्त पाते हैं। ध्यान मूर्च्छा से प्रज्ञा की ओर जाने का मार्ग है। ध्यान हृदय और चेतना की पंखुरियों को खिलाने का साधन है, संसार में रहकर संसार से अछूते होने की कला है, सोये हुए लोगों के बीच सजगता और साक्षित्व को साधने का आधार है, भीड़ के कोलाहल में एकत्व-बोध का आयाम है।

ध्यान विकृत दृष्टियों के मध्य आत्मिक प्रेम का प्रसाद है। तनाव और घुटन के बीच शांति का सूत्रधार है। जिस दुनिया में इन्सान केवल स्वार्थ, छल, प्रपंच और हिंसा में रत रहा है, वहाँ ध्यान उसकी भावधारा को रूपान्तरित कर करुणाशील बनाता है। सुख-दुख के द्वन्द्व से उपर उठकर सम्यक् आनन्द का स्वामी बनाता है।

ध्यान संसार में संन्यास का कमल है। ध्यान की तरंग, संबोधि की समझ न होने के कारण ही संसार तुम्हारे लिए दलदल रहा। जेहन में बोध की किरण उतर जाए, तो संसार सुख का वरदान बन जाए। बस जीवन में ध्यान-दृष्टि चाहिए, बोध-दृष्टि चाहिये। इसके अभाव में व्यक्ति मुक्ति का उत्तराधिकारी नहीं, वरन् संसार के सरोवर में खड़ा बगुला भर होगा।

जरा देखो तो सही, तुमने न जाने किन-किनसे उपेक्षा पाई है। पत्नी जिसे तुम प्रेम करते हो, कितने ही दिन तुमसे रूठी रहती है। बच्चे जिन्हें तुम अपना कहते हो

तुम्हारा कहना नहीं सुनते, तुम्हारे अधीनस्थ तुम्हारे विरुद्ध नारेबाजी करते हैं। कई मर्तबा नौकर भी तुम्हारी बात पर कान नहीं देता। फिर भी तुम्हारी चेतना बेअसर रहती है। गधा कितनी भी लात मारे, धोबी उसी के पीछे रहता है। अंधकार के अभ्यस्त हो गए हैं लोग। वासना के गुलाम हो गए हैं। वासना और मूर्च्छा का अंधकार अत्यंत गहन है। ओह, मूर्च्छा का तिलिस्म इतना तगड़ा है कि बड़े-बड़े पंडित और शास्त्रविद् भी इससे निकल नहीं पाते। आज आदमी को जरूरत ज्ञान की नहीं, अपनी मूर्च्छा को समझने की है। मूर्च्छा से मुक्त होने की है। लोगों की दुविधा तो देखो, जब समझदार लोगों के बीच आते हैं तो समझ और प्रकाश की बातें कर लेते हैं, प्रकाश-पथ के आचरण की अनुमोदना भी करते हैं। शायद दो-चार प्रयास भी कर लेते होंगे, लेकिन वे प्रयास ऐसे ही होते हैं जैसे शराब के नशे में चलाई गई पतवारें। नशा उतरने पर जब नाव से नीचे आते हैं और देखते हैं कि कहाँ पहुँचे, तो पाते हैं जहाँ से चले थे वही हैं। आखिर, लंगर तो खोले ही नहीं गए। रातभर पतवारें चलाई, पर लंगर खोलना भूल गए। प्रकाश की बातें खूब कीं, पर अंधकार का व्यामोह न छूटा। इसलिए तुम उस किनारे तक पहुँचने की परवाह मत करो। तुम केवल लंगर खोलो। हवाएँ स्वयं तुम्हें उस पार ले जाने को आतुर हैं। प्रभु तुम्हें पुकार रहे हैं। पूर्णता के प्रकाश के सागर में नाव छोड़ने के पूर्व वासना की जंजीर अलग कर देनी जरूरी है। फिर पतवारों भी नहीं चलानी पड़ती। रामकृष्ण ने कहा है : 'तू नाव तो छोड़, पाल तो खोल, प्रभु की हवाएँ हर पल तुझे ले जाने को उत्सुक हैं।'

जिस दिन लंगर जंजीर के रूप में दिख जाएगा, लंगर का बंधन समझ में आएगा, तुम लंगर खोलने की क्रान्ति कर ही उठोगे। अंधकार की सही समझ ही प्रकाश की पिपासा जगाती है, तब ही हम प्रकाश की खोज करेंगे। अगर ठीक ढंग से समझ आ जाए कि क्रोध बुरा है तो अक्रोध का मार्ग खुलना शुरू हो जाएगा। अन्यथा, शांति के क्षणों में तो तुम सलाह दे दोगे कि क्रोध करना बुरी बात है, क्रोध शैतान का घर है, पर जब तुम अशांत होओगे तो शांति के क्षणों में दिया गया संदेश धूल-धूसरित हो जाएगा और क्रोध तुम पर हावी हो जाएगा। ध्यान आपको यह मार्ग देगा कि अशांत क्षणों में शांत कैसे हुआ जाए। वह हमारे चित्त में समाए असत् के अंधकार के कोहरे को, तमस् को काटने का उपाय देता है। ऐसा नहीं है कि फिर प्रतिकूल परिस्थितियाँ या प्रतिकूल निमित्त उपस्थित नहीं होंगे। अनुकूलताएँ-प्रतिकूलताएँ—दोनों ही स्थितियाँ आएँगी, लेकिन साधक वही है, सम्बुद्ध वही है जो अनुकूलता के प्रति आसक्त न हो, प्रतिकूलता के प्रति उद्विग्न न हो।

हम दो संतों को लें, एक है संत तुकाराम और दूसरे हैं संत एकनाथ । एकनाथ की पत्नी सरल, विनम्र, अनुकूल, वहीं संत तुकाराम की पत्नी क्रोधित, अविनीत और प्रतिकूल । दोनों ही भक्त साधक । अपनी भावधारा के प्रति सजग । परिणाम यह हुआ कि एकनाथ ने आसक्ति-भाव बढ़ने न दिया और तुकाराम ने द्वेष-भाव उभरने न दिया । एक वीतराग रहे, तो दूसरा वीतद्वेष । एकनाथ सोचते—सौभाग्य, मुझे सत्संग के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता । अपनी पत्नी का ही मुझे सत्संग मिल जाता है । तुकाराम सोचते— ईश्वर की कृपा, जो ऐसी पत्नी का संयोग मिला, नहीं तो यह बहुत कुछ संभव था कि मैं घर-गृहस्थी में फँस जाता, मूर्च्छा में उलझ जाता और यों प्रभु-सुमिरन को भुला बैठता ।

जो अपने मन को सही दिशा देने में सफल हो गया, उसके लिए जीवन की हर घड़ी धन्यभाग होने का सुकुन दे देती है, जहाँ अन्तर्मन शान्त हुआ, वहाँ बाहर की अशांति कैसे प्रभावित करेगी । ध्यान अन्तर्मन की शांति-शुद्धि का ही आधार है । ज्यों-ज्यों ध्यान गहरा होगा, ध्यान का क्षेत्र विराट् व्यापक होता जाएगा । ध्यान ही भक्ति हो जाएगा, ध्यान ही सेवा, ध्यान ही प्रेम और ज्ञान भी । जिसने भी पाया, ध्यान से पाया । ध्यान में स्वयं की पहचान होती है । स्वयं के साथ-साथ अन्तर्मन में समाए जगत से भी परिचय होता है । तब आप बिना साधना के भी वीतद्वेष होंगे । ध्यान रखें, हम वीतराग हो सकें या न हो सकें, वीतद्वेष होना जरूरी है । जब हृदय में करुणा और प्रेम का सागर छलछलाता हो तो वीतराग होना मुश्किल है, लेकिन वीतद्वेष हो जाना अनिवार्य है । हम किसी के मोह से छूट पाएँ या न छूट पाएँ, लेकिन हम किसी के प्रति वैर-वैमनस्य-विद्वेष नहीं रखें यह संकल्प तो दृढ़ आस्थाशील हो जाए । यह ज्ञात होने पर कि अमुक मुझसे द्वेष रखता है तुरंत उससे क्षमा प्रार्थना करें, उसे प्रणाम करें । आखिर, उसमें परमात्मा का बीज है । फिर परमात्मा का कोई भी अंश हमसे नाराज क्यों रहे । मेरे देखे, ध्यान हमें वीतद्वेष होने का संकल्प और बोध देता है ।

प्रातः और संध्याकाल में ध्यान करने से पूर्व अपने जीवन में किए गए समस्त पापों के लिए अपनी अन्तरात्मा से क्षमा चाहें, हृदय से उन्हें बाहर उलीचकर निर्भर हो जाएँ । समस्त प्राणी-मात्र के लिए करुणा और मैत्री-भाव का विकास होते हुए देखें । परमात्मा के स्मरण के साथ हम अन्तरजगत् में प्रवेश करें । ध्यान वह मार्ग है जो हमें प्रज्ञा की ओर ले जाता है । संबोधि जीवन की समझ है, ध्यान की परिणति है । यह वह दृष्टि है जिसका आधार सजगता, साक्षीत्व, तल्लीनता, और व्यक्तिगत चेतना में परमात्म-चेतना की अनुभूति है । अगर ऐसा होता है तो आप ध्यान के साथ एकाकार

हुए, ध्यान के नाम पर समय भर व्यतीत हुआ। जब तक ध्यान का जीवन हमारे व्यवहार में घटित न हो तब तक ध्यान हुआ ही कहाँ। हमारे स्वभाव और व्यवहार में जो परिवर्तन कर दे, वही ध्यान मंगलकर है। जो हमारी कथनी और करनी को एक कर दे, वही ध्यान सुखद है। जो हमारे वक्तव्य और आचरण को एक कर दे, वह ध्यान ही स्वस्तिकर है। जो हमारे चित्त को निष्कषाय और निष्कलुष कर दे, वही अमृत ध्यान है। जो भीतरी संघर्ष और मन के ऊहापोह से विरत कर दे, वह ध्यान ही श्रेयस्कर है।

महावीर के कान में कील तक ठोक दिये गए, हम एक मच्छर की काट से भी बिदक जाते हैं। जीसस को सलीब भी स्वीकार था, हम दो कटु शब्द भी पचा नहीं पाते। गांधी को गोली मंजूर थी, हमें तो गाली भी नहीं है। हम ध्यान को जिँ, ध्यान के साथ यम-नियम का भी विवेक रखें। जीवन का हर कदम ध्यानपूर्वक हो, विवेकपूर्वक हो। व्यक्ति का गुरु कोई व्यक्ति नहीं होता। व्यक्ति का विवेक ही उसका गुरु है। हम ध्यान को जिँ, जीवन-पथ पर ध्यान और विवेक को, संबुद्ध-अवस्था को जिँ।

बस, समझ चाहिए, ध्यान की समझ चाहिए। केवल एक घंटा ध्यान ही न करो, वरन् उस ध्यान की तरंग पूरे दिन व्याप्त रहे। ठीक वैसे ही जैसे सुबह की एक खुराक दवा पूरे दिन असर रखती है और शाम की दवा रात भर असर बनाए रखती है। ध्यान की बैठक ऐसी ही है। सामान्य व्यक्ति के तो दिन भी निष्फल चले जाते हैं, पर ध्यान करने वाले की रातें भी सार्थक, सफल हो जाती हैं। भगवान करे आपकी रात्रियाँ भी सफल हों और दिन भी।

जिस मकान में अंधेरा होता है वहाँ जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे चोर घुस ही आते हैं। जिस घर में रोशनी होती है, वहाँ चोरों को घुसते हुए भी सोचना पड़ता है। हमारे भीतर अंधियारा है इसलिए कभी काम घुस जाता है, कभी क्रोध। कभी लोभ घुस जाता है, कभी मोह। रोशनी हो तो किसी को भी घुसते हुए सोचना पड़ेगा। मार को भी सोचना पड़ेगा कि राम के पास किस मुँह से जाऊँ, मेरी कुछ चलेगी तो नहीं।

अन्तरात्मा में, हमारी दृष्टि में ध्यान की रोशनी प्रदीप्त हो, बस ऐसा ही दीप जले, भीतर-बाहर दोनों ही दीप्त हों, दोनों ही स्वस्तिप्रद, समृद्ध हों।

ध्यान वही है, जो जीवन में घटे। भीतर भी ध्यान की धारा हो और बाहर भी। व्यवहार पर भी ध्यान की मुहर हो और अन्तरमन पर भी। ध्यान को अपने जीवन में आत्मसात् करना है, तो तुम शान्त और निरपेक्ष जीवन के स्वामी बनो। संसार के सबसे

कठिनतम कार्यों में एक है—शान्तिपूर्वक जीवन जीना । ध्यान रखो, तुम्हारे मन में अगर शान्ति है, तो तुम अनन्त वैभव के स्वामी हो । जीवन में शान्ति की सुवास नहीं, तो भले ही तुम्हारे पास संसार भर का भी वैभव क्यों न हो, तुम्हें यह वैभव भी काटेगा । तुम उस हर मार्ग का अनुसरण कर लेना, जिससे गुजरकर तुम्हारे मन की शांति खंडित न हो । बस, एक ही चीज है ऐसी जिसे तुम्हें जीना है, हर हाल में बनाये रखना है और वह है चित्त की शांति ।

हम कुछ सूत्र लें ।

मेरा आप सभी प्रबुद्ध महानुभावों से अनुरोध है कि हम सदा मस्त रहें, प्रसन्न रहें । जीवन में परिस्थिति चाहे जैसी आए, निराशा के दलदल में मत फँस जाना । जीवन जीने के लिए है और हम इसे ऐसे जिएँ जैसे कोई पंछी अपने पंखों को फैलाकर आकाश में उड़ता है । जीवन में व्यक्ति इतना स्वतन्त्र और मस्त रहे ।

मैं तो कहूँगा कि तुम ध्यान को भी अपने जीवन में मस्ती लेने का अंग ही बना लो । तुम मस्ती से जिओ । ध्यान की मस्ती से, आत्मा की मस्ती से । ध्यान तुम्हारे लिए ऐसा हो जाए मानो तुम ध्यान में उतरकर अपने भीतर घूँट-घूँट आनन्द की चाय पी रहे हो । तुम इतने प्रफुल्ल भाव से ध्यान में उतरो कि ध्यान तुम्हारी प्रफुल्लता के पुष्प को और खिलाने वाला बने । तुम निराश और मुर्दे मन से ध्यान में उतरोगे, तो इससे तुममें निराशा ही प्रगाढ़ होगी । आखिर, जिस मार्ग से, जिस तरीके से चलोगे, वैसे ही तो परिणाम आएँगे ।

ध्यान कोई अभ्यास नहीं है । ध्यान यानी मन लग गया । 'मनड़ो लागो मेरो पार फकीरी में ।' ध्यान यानी तुम्हारी मस्ती में तुम्हारा मन तल्लीन हो गया । तुम्हारे मन का, तुम्हारे विश्वास का, तुम्हारी शक्ति का सत्य में स्थित हो जाना ही ध्यान है । चैतन्य में आपूरित होना ही ध्यान है । आनन्द से अभिभूत हो जाना ही ध्यान है । मेरे देखे, ध्यान अपने में अपना विश्राम है, उपराम है । चित्त का शान्त होना और चेतना में जागृत होना—यही ध्यान का शुभारम्भ है और यही ध्यान की मंजिल ।

तुम मस्त रहो, हर हाल मस्त रहो—नफे में भी और नुकसान में भी । सम्मान में भी, और अपमान में भी । प्रणाम में भी और दुष्परिणाम में भी । तुम हर हाल शान्त रहो, मस्त रहो, बस इतना ही संदेश है, मुक्ति की फिजाओं का इतना ही पैगाम है ।

इस पहलू से जुड़ा हुआ दूसरा सूत्र लें—हम हर हाल में धैर्य धारण करें ।

छोटी-छोटी बातों पर क्रोधित-उत्तेजित या आक्रोशित होने की बजाय जीवन में धैर्य और माधुर्य के नीलकमल खिलने दें। विशेषकर तब जब किसी से हमें अपमान या पीड़ा मिल रही है। हम किसी के प्रति बदले की भावना न रखें। हम विद्वेषी के प्रति भी, ध्यान में उतरने से पहले भी और बाद में भी, मैत्री-भाव का संचार करें। अगर ऐसा होगा तो एक तो उसके विद्वेष के भाव स्वतः कम होते जाएँगे और दूसरा यह कि उसके वैर-विरोध की पीड़ा हमें नहीं सालेगी। ईसा को जिसने सलीब दिया था, वह जानता था कि ऐसा करके वह ईसा को मृत्यु नहीं, वरन् प्रेम, धैर्य और माधुर्य का अमृत दे रहा है। कभी ध्यान दिया कि उस पीड़ा में से भी कैसे धैर्य के कमल खिले थे, शान्ति का निर्झर बहा था, माधुर्य का मुक्त गगन उमड़ा था !

मैं तो कहूँगा जीवन में तुम हर घटना के प्रति, हर कृत्य के प्रति बड़े धैर्य और आत्मविश्वास से पेश आना। व्यग्र या जल्दबाज होने का दुर्गुण अपने में पोषित मत होने देना। तुम थोड़ा प्रकृति पर भी, उसकी व्यवस्थाओं पर भी, प्रभु के प्रबन्धों पर भी विश्वास करना।

मुझसे कभी मेरे एक करीबी साधक ने कहा कि वह मुक्ति पाने के लिए व्यग्र है। मैंने उसे इतना ही कहा, यह अनन्त का मार्ग है, और अनन्त को पाने के लिए वही व्यक्ति कसौटी पर खरा उतर सकता है, जिसके हृदय में अनन्त धैर्य है। आखिर, किसी को सत्य को जन्म देना है, तो उसे प्रसूति के अन्तिम क्षण तक धैर्य रखना होगा। जल्दबाजी करनी चाही, परिणाम को तत्क्षण पाना चाहा, तो जच्चा-बच्चा दोनों को खतरा है। आदमी फिसल जाएगा।

तुम बीज बोओ और धीरज धरो। ध्यान का बीज, साक्षित्व का बीज, बोध-दशा का बीज बोओ। बीज स्वतः एक दिन फूटेगा। फोड़ने से बीज नहीं फूटता। वह तो जब भी फूटेगा, आकस्मिक ही फूटेगा। अगर तुमने यह सोचा कि क्या बात है बीज फूटा क्यों नहीं और यह सोचकर जमीन को खोदा तो बीज टूट जाएगा, फूट नहीं पाएगा। बीज के फूटने की भी आखिर प्रक्रिया है, उसके लिए भी समय चाहिए। अधीर होने से काम नहीं चलेगा। धीरज चाहिए, परिणाम के लिए धीरज। तुम बस धैर्यपूर्वक भीतर के आकाश को देखते जाओ, एक दिन तुम अवश्य ही आकाश हो जाओगे, मुक्त और विराट हो जाओगे।

तीसरा संकेत अपनी ओर से यह देना चाहूँगा कि ऐसे भोजन, ऐसे पदार्थ, ऐसी परिस्थिति से परहेज रखो, जो मादक हो, उत्तेजक हो। तुम वह भोजन या वह पेय या

वह खाद्य कतई मत लो, जो तुम्हारे होश को, तुम्हारी अप्रमत्तता को बाधित करे। शराब तो बहुत दूर की बात है, तुम चाय, कॉफी और धूम्रपान से भी बचकर रहो। ध्यान के लिए जितना जरूरी यह है कि तुम्हारा मन स्वस्थ और निर्मल हो, उतना ही जरूरी यह भी है कि तुम्हारा मुँह और पेट भी उतना ही स्वस्थ और निर्मल हो।

और अपनी ओर से जो चौथी और अन्तिम बात जो कहना चाहता हूँ वह यह है कि तुम अपनी हर स्थिति का स्वागत करना। तुम यह मानकर चलो कि परिस्थितियाँ विपरीत आएँगी, तुम्हें उन परिस्थितियों के सामने कैसे रूबरू होना है, इसकी मानसिकता तुम अभी से तैयार रखो। लोग तो बुरा-भला कहेंगे, लोग तो तुम पर कीचड़ उछालेंगे, तुम्हें कीचड़ के बदले में कीचड़ ही उछालते रहना है, या तुम कीचड़ के बदले में कोई फूलों का गुलदस्ता तैयार कर चुके हो। तुम कमल हो जाओ, कीचड़ अपने आप निस्तेज हो जाएगा। तुम सागर हो जाओ, अंगारे अपने आप बुझ जाएँगे।

तुम परिस्थितियों से पलायन मत करो। तुम परिस्थितियों के प्रति प्रेम से पेश आओ। तुम अपने प्रेम से, सरलता से, माधुर्य से परिस्थिति को बदल सको, तो बहुत श्रेष्ठ, वरना उस विपरीत परिस्थिति को सह जाना, पी जाना। आखिर विष पी जाने के कारण ही महेश शंकर कहलाए। मीरा विष पीकर ही कृष्ण की बावरी हुई थी। हमें भले ही छिदना लगे, पर छिद कर ही कोई चीज मोती कहलाती है और कटकर ही कोई चीज हीरा।

अपनी प्रिय कहानियों में एक है भगवान बुद्ध किसी गाँव में प्रवास कर रहे थे। बुद्ध जैसे तेजस्वी और यशस्वी व्यक्ति की यशोगाथा से पूरा गाँव अभिमंडित था। स्वाभाविक है जहाँ अच्छे लोग होते हैं, वहाँ बुरे लोग भी होते हैं। जैसे अंग्रेजी दवा के फायदे भी होते हैं, तो इन्फेक्शन भी। बुरे लोग अपनी बुराई पर इस कदर उतर आए कि बुद्ध का यश धूमिल हो गया और बुद्ध की अपकीर्ति होने लगी।

बुद्ध की बदनामी इस कदर फैल गई कि गाँव में बुद्ध का रहना दूभर हो गया। बुद्ध के शिष्य गाँव में आहार के लिए जाते, तो बुद्ध के प्रति वही सब टीका-टिप्पणी सुनने को मिलती। आखिर आनन्द से रहा न गया। सब कुछ सीमा के बाहर हो चला था। आनन्द ने बुद्ध से अनुरोध किया, प्रभु, गाँव में जो कुछ आपके लिए कहा जा रहा है, या तो आप उसका प्रतिकार करें, या फिर गाँव छोड़कर कहीं और निकल चलें।

बुद्ध ने कहा, वत्स ! गाँव से चले जाने से अंधेरो को और बल मिलेगा। और

अगर दूसरे गाँव भी चले गए, तो यह कौन-सी गारंटी है कि वहाँ बुरे लोग नहीं मिलेंगे !

आनन्द ने कहा, भन्ते ! दूसरे गाँव में भी ऐसा ही हुआ, तो और किसी गाँव में चल पड़ेंगे ।

बुद्ध ने कहा, उस तीसरे गाँव में भी ऐसा ही हुआ तो ?

आनन्द ने कहा, भन्ते, चौथे गाँव, पाँचवें गाँव चल पड़ेंगे ।

बुद्ध बोले, वत्स ! ऐसे हम कितने गाँव बदलेंगे ।

आनन्द ने कहा, भगवन्त ! गाँवों की कमी थोड़े ही है । एक नहीं तो दूसरा सही ।

बुद्ध ने मुस्कुराकर कहा, आनन्द ! गाँवों के बदलने से लोग नहीं बदलते । इस गाँव को अगर तुम इसलिए छोड़ रहे हो कि यहाँ बुरे लोग रहते हैं, तो ध्यान रखो, तुम जिस भी गाँव में जाओगे, वहाँ भी ऐसी ही प्रकृति के लोग मिल जाएँगे । तुम गाँवों को बदलना छोड़ो । आखिर, हम आज जिस गाँव में हैं, वहाँ भी अच्छे लोग हैं । तुम अपने मन में उनके प्रति शांति और समता का, दया और क्षमा का भाव लाओ । तुम किसी की गाली को ग्रहण मत करो । तुम्हें गाली, गाली रूप में नहीं लगेगी । तुम गीत और गाली—दोनों से उपरत रहो, निरपेक्ष रहो । तुम स्वतः आकाश की तरह मुक्त रह सकोगे । बुद्ध के साथ रहकर तुम पलायन नहीं, जीवन को और जगत को जीना सीखो । यह सब तो ध्यान और निर्वाण के कसौटी-सूत्र हैं ।

हम अन्तर के गवाक्ष में झाँकें, वहाँ की मनःस्थिति को स्वस्थ करें और जगत की ओर अपनी दृष्टि खोल दें, अपने चिन्मय चरण बढ़ा दें ।

प्रमोद-भाव से आप सबको मेरे नमस्कार ।



मनुष्य का मन और ध्यान का विज्ञान

मेरे प्रिय आत्मन्,

ध्यान मनुष्य का सहचर है। जैसे छाया को मनुष्य से विलग नहीं किया जा सकता, वैसे ही ध्यान को मनुष्य-जीवन से अलग करना संभावित नहीं है। कामुक व्यक्ति का ध्यान लगातार काम के संयोग के प्रति समर्पित रहता है। भोगी व्यक्ति का ध्यान भोग्य पदार्थों से संबद्ध रहता है। रोगी व्यक्ति रोग-निवारण के ध्यान में मग्न रहता है। ज्ञानी व्यक्ति का ध्यान तत्त्व-चिंतन और जीवन-चिंतन के बारे में समर्पित रहता है। भक्त व्यक्ति का ध्यान भगवद्-भक्ति और भगवद्-चिंतन में लगा रहता है। जैसी जिसके मन की दशा होगी, उसका ध्यान उन्हीं केन्द्रों पर केन्द्रित रहेगा।

ध्यान व्यक्ति को वैसा ही परिणाम देता है, जिसका जिस वस्तु, विषय या पदार्थ के प्रति ध्यान बना होता है। कामुक व्यक्ति यदि मंदिर में भी चला जाए, तो उसकी आँखें काम-संयोगों के प्रति टिमटिमाती रहेंगी; और यदि किसी भक्त को वेश्यालय में भेज दिया जाए या ज्ञानी को मधुशाला में पहुँचा दिया जाए तो वे वहाँ भी मंदिर और जीवन-दर्शन के आयाम खोज लेंगे। मनुष्य का जैसा ध्यान होगा, उसे वैसे ही निमित्त मिलेंगे। और जब ध्यान और निमित्त का संयोग घटित होता है, तब परिणाम सामने दिखाई देता है।

हम जिन बातों पर निरन्तर चिंतन करते हैं, मानकर चलिए कि उसके अनुकूल

निमित्त हमें आज या कल स्वतः मिल जाएँगे। जो विज्ञान के बारे में सोचता है, उसे वैसे साधन मिलेंगे। जो गणित के बारे में सोचेगा, उसे गणित के नये-नये फार्मूले मिलते जाएँगे। जो काव्य-चिंतन से जुड़ा है, उसके शब्द-भाव स्वतः काव्यात्मक होते जाएँगे।

तुम जिन बिंदुओं पर सोचोगे, प्रकृति तुम्हें उस ओर बढ़ने में मदद करेगी। किसी बिन्दु पर मन को स्थिर करना, स्थिर चिंतन करना, मन और बुद्धि को एकलय बनाना ध्यान का ही एक रूप है। कहते हैं, हस्तरेखाएँ बदलती रहती हैं। जो रेखा, आज है, जरूरी नहीं है कि वह छः महीने बाद भी रहे। विचारों के परिवर्तन के साथ रेखाएँ भी बदलती हैं। कुछ लोग रेखाओं को देखकर व्यक्ति की मनःस्थिति और भाग्यस्थिति बतलाते हैं। मैं कहूँगा तुम मन की स्थिति सुधार लो, हस्तरेखा की स्थिति अपने आप सही हो जाएगी। असली खोट हाथ में नहीं, मनुष्य के मन में है।

कहते हैं, एक बार अमेरिका में विद्वानों की एक संगोष्ठी आयोजित हुई। उस संगोष्ठी में सम्मिलित होने के लिए पेरिस से एक बिल्ली भी पहुँची। तीन घंटे तक समारोह में बैठी रही। जब वह लौटकर अपने परिजनों के बीच पहुँची तो परिजनों ने पूछा, 'तुमने सभा में क्या देखा, क्या सुना?' उत्तर मिला, 'मैं वहाँ थी जरूर, लेकिन कुछ सुन न पाई, कुछ देख भी न पाई। क्योंकि समारोह के अध्यक्ष की कुर्सी के नीचे ही मेरी दृष्टि जमी रही।' परिजनों ने पूछा, 'क्यों, ऐसा वहाँ क्या था।' बिल्ली ने कहा, 'चूहा।'।

अगर व्यक्ति के ध्यान की स्थिति बिल्ली जैसी है, मन की दशाएँ कुत्सित हैं, तो विद्वानों की सभा के बीच जाकर भी वैसी ही दशा बनती है जैसी अष्टावक्र की राजा जनक की सभा में पहुँचने पर हंसी-मजाक के रूप में सम्पन्न होती है। अगर हमारी दशा बिल्ली की है, तो हमारा ध्यान हिंसा का ही होगा। जैसा ध्यान होगा, वैसा ही परिणाम होगा। मन में हिंसा हो, तो दृष्टि में करुणा कहाँ से आएगी।

मनुष्य को ध्यान योग से भी अधिक आवश्यकता मन के परिवर्तन करने की है। व्यक्ति यदि अपने मन को सार्थक दिशा न दे पाये, अपने मन को उदात्त जीवन की चेतना न दे पाये तो वह भारभूत जीवन ही जिएगा। वह अस्वस्थ रहेगा। वह मंदिर जाकर भी भगवान के दर्शन न कर सकेगा, वहाँ की कमियों को लेकर ही वापस आएगा। उसे मंदिर में भगवान कम, मंदिर की व्यवस्थागत कमियाँ ही नजर आएँगी।

धर्मग्रंथों को पढ़कर मैंने व्यक्ति के उस वैराग्य को पहचाना है जब स्थूलिभद्र जैसे संत अपना वर्षावास एक वेश्यालय में स्थापित करते हैं। उस व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि

में कितनी गहराई होगी, जिसने किसी महानगर या धार्मिक स्थान को न चुनकर एक वेश्यालय का चयन किया। न केवल चयन किया अपितु चार माह तक वहीं निवास किया। कोशा अपनी ओर से जितना प्रयास कर सकती थी कि स्थूलिभद्र डिग जाएं, भरपूर प्रयास किये, लेकिन अन्ततः अनासक्ति विजयी हुई, विराग जीत गया और कोशा के वेश्या-भाव का विलय हुआ। उसके भीतर से श्राविका का जन्म हुआ। पंक पड़ा रह गया, पंकज फूटकर बाहर निकल आया। स्थूलिभद्र के मन की दशा इतनी अधिक उन्नत और उदात्त थी कि निर्लिप्तता की बाती और अधिक ज्योतिर्मय हो गई।

स्थूलिभद्र, जो रहा था पहले कभी आशिक उस कोशा का, पर मन ने जब करवट बदली तो उससे इस कदर अनासक्ति हुआ कि अपने वैराग्य की कसौटी कसने के लिए उसने अपनी पूर्व प्रेमिका को ही पात्र बनाया। सचमुच मन को सार्थक दिशा मिलनी चाहिए। जैसे मिट्टी मूर्ति बन जाती है, कोई पत्थर सिंहासन बन जाता है, वैसे ही मन को सार्थक दिशा मिल जाए तो वह मंदिर बन जाता है। मन जो बाधक है, मन जो घातक है, वही मन साधक और सहायक बन जाता है। मन को दिशा देना न आया, इसीलिए हम जीवन हारे हुए हैं। मन को अगर चेतना की दृष्टि मिल जाए तो जीवन में ध्यान का वह विज्ञान ईजाद होता है जो व्यक्ति को अन्तस् की ऊँचाइयों तक पहुँचाता है। परम स्वरूप की ओर अभिमुख करता है।

मिट्टी मूर्ति बनती है, मिट्टी मंगल कलश बनती है। यदि राह का पत्थर किसी सिर को लग जाए तो लहलुहान कर देता है। यही पत्थर किसी कलाकार के हाथ में आ जाए तो फन (कला) का रूप निखर आता है। वही पत्थर महावीर का सिंहासन और बुद्ध का वज्रासन बन जाता है। वर्षों तक बीज, बीज ही पड़ा रहता है। लेकिन बीज को जब उर्वरा धरती का धरातल मिल जाए, उसे सिंचन करने वाला मिल जाए तो बीज में से बरगद साकार हो जाता है। किसान जानता है कि पशुओं से मिलने वाला गोबर खेत में खाद बन जाता है और उसमें से चाहे दुर्गन्ध भी क्यों न उठे, खेती के लिए वही वरदान होता है। उसी से सुगंधित पुष्प, मधुरिम फल और अनाज उत्पन्न होते हैं। जब गंदगी में से सुगंध पैदा हो सकती है और जीवन के नर्क में से स्वर्ग ईजाद हो सकता है, तो हम ही पीछे क्यों रहे।

भगवान ने मनुष्य के मन के आधार पर ध्यान का विज्ञान दिया। मनुष्य के मन की दशाएँ और मन की स्थितियों को पढ़कर ध्यान की कला और ध्यान का मार्ग इन्सान को सौंपा। भगवान ने देखा मनुष्य के भीतर ध्यान की सततता और निरंतरता तो है,

लेकिन उसका ध्यान अधिकतर अशुभ विषयों पर ही केन्द्रित रहता है। इसलिए महावीर ने मनुष्य को एक क्रान्ति दी और कहा कि ध्यान मनुष्य को केवल ऊँचा ही नहीं उठाता, बल्कि नीचे भी गिराता है। अशुभ विषयों पर केन्द्रित ध्यान मनुष्य को अशांति, संघर्ष, तनाव और खिंचाव देता है। इसके विपरीत शुभ विषयों पर केन्द्रित ध्यान सदा उन्नति, अभ्युत्थान और निःश्रेयस प्रदान करता है। इसलिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हमारा ध्यान लगा या नहीं, बल्कि यह जानना आवश्यक व मूल्यवान होगा कि हमारा ध्यान कहाँ लग रहा है, किस ओर लग रहा है। केवल स्वयं से यह न पूछो कि, 'मैं कौन हूँ' बल्कि यह जाने कि, 'मैं कहाँ हूँ'। मेरी चेतना कहाँ है'। काम में है या राम में है, राग में है या रोग में, तत्त्व-चिंतन में है या भगवद्-भक्ति में।' जहाँ-जहाँ चेतना स्थित है वहाँ-वहाँ का ध्यान है। ध्यान शुभ भी और अशुभ भी। काँटा अशुभ भी होता है और शुभ भी। अगर काँटा गड़ा हुआ है तो वह अशुभ है और उसे निकालने के लिए दूसरे काँटे का उपयोग होता है तो यह काँटा शुभ है।

ध्यान का अशुभ होना, अशुभ ध्यान है। ध्यान का शुभ होना, शुभ ध्यान है। अशुभ का ध्यान अशुभ ध्यान है, शुभ का ध्यान शुभ ध्यान है। अशुभ ध्यान का परिणाम अशुभ और शुभ ध्यान का परिणाम शुभ। जो स्थिति चन्द्रमा के कृष्ण पक्ष की और शुक्लपक्ष की है, वही स्थिति ध्यान की है। ध्यान का भी कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष दोनों है। यह बड़ी गहरी बात है। सारे संसार तक ध्यान की यह गहराई, ध्यान की यह समझ पहुँचनी चाहिए। तुम इस बात को थोड़ा ध्यान से समझ लो, तो बगैर ध्यान का अभ्यास किए तुम चित्त को सुकून दे दोगे, मन को मधुरिम बना लोगे। अशुभ से शुभ की ओर लौट आओगे।

महावीर ने ध्यान के चार रूप कहे— आर्त-ध्यान, रौद्र-ध्यान, धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान। ध्यान की विधियाँ तो बहुत आविष्कृत हुईं, लेकिन ध्यान का इतना बारीक ग्राफ, इतना सटीक विभाजन, ध्यान के सोपानों का ऐसा प्रशस्त मार्गदर्शन अद्भुत रहा। आर्त ध्यान के माध्यम से महावीर ने मनुष्य को यह समझ दी है कि जिस ध्यान का संबंध पीड़ा से होता है, जो ध्यान पीड़ाजन्य होता है और जिसका अंतिम परिणाम भी पीड़ा ही देता है, वह ध्यान आर्त ध्यान है। जिस चिंतन के द्वारा, जिस भावना के द्वारा या प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा के द्वारा मनुष्य के चिंतन का परिणाम अंततः पीड़ादायी होता है, ऐसा ध्यान मनुष्य के लिए अभिशाप है। इस अभिशाप को भगवान ने अपनी भाषा में आर्त ध्यान कहा है।

जब कोई व्यक्ति आहत-उपहत होता है, किसी बात से उसे कष्ट पहुँचता है, तो उस कष्ट की वेला में मन में जो विमर्श होता है, जो चिंतन चलता है, वह आर्त ध्यान है। कोई काम से पीड़ित होता है, कोई क्षुधा से, कोई तृषा से; उस पीड़ा और कष्टमयी स्थिति में चित्त की जो स्थिति रहती है, वह होती तो स्थिर है, एकाग्र है, किन्तु वह स्थिति आदमी को और अशान्त तथा तनावग्रस्त करती है। आर्तध्यान ही मनुष्य के मानसिक अवसाद का, डिप्रेशन का कारण बनता है। जिन्हें डिप्रेशन की बीमारी है, वे स्वयं को आर्तध्यान से मुक्त करें, स्वतः मानसिक स्वस्थता आ जाएगी।

मुझे याद है : एक राजकुमार ने संन्यास स्वीकार किया। रात्रि होने पर अन्य साधु-सन्तों के साथ वे भी सो गए। यह नव दीक्षित संत अन्य संतों की कतार में सबसे नीचे के सोपान पर था। रात्रि में शौच या अन्य निवृत्ति के लिए संत उठते, उधर से निकलते जहाँ वह नया संत सोया था, बाहर जाते हुए कितना भी बचकर चलते, उसे ठोकर लग ही जाती थी अथवा पाँवों की आहत होती और उस संत राजकुमार की नींद उचट ही जाती। वह पूरी रात सो न सका और आर्त ध्यान चलता रहा। 'ओह, कहाँ मैंने संन्यास ले लिया, अरे, इससे तो अच्छा था अपने राजमहलों में रहना, आराम से चैन की नींद सोता। इनकी यह हिम्मत कि मुझे जो एक राजकुमार रहा है, पाँवों की ठोकर मारें और निकल जाएँ ! मैं यहाँ नहीं रहूँगा। मुझे ऐसी साधना नहीं करनी, मुझे ऐसी आत्म-उपलब्धि नहीं करनी।'।

रात भर ध्यान अवश्य रहा, पर किसका ? पाँवों से होने वाली आहत का और लगने वाली ठोकर का। वह पूरी रात यही संकल्प दोहराता रहा कि जैसे ही सुबह होगी चुपचाप अपने राजमहलों की ओर लौट जाऊँगा। सुबह हुई। सूरज ने आसमान में दस्तक दी और संन्यासी राजकुमार लौटने लगा। वह कुछ कदम चला ही था कि सद्गुरु ने पीछे से संबोधित किया, 'क्या बात है ? वापस लौट रहे हो ?' वह चौंका कि सद्गुरु को कैसे पता चला। कुछ कह न सका। इतना साहस न जुटा पाया कि अपने सद्गुरु से आँख मिला ले। शर्म से गर्दन नीचे झुका ली। जान गया कि गुरु ने उसके मन की तरंगों को पहचान लिया है।

गुरु ने कहा कि, 'तुम्हें जाना है तो अवश्य जाओ, लेकिन जाने से पहले इतनी बात जरूर सुनते जाओ कि आज रात को दो-चार पाँवों की ठोकर लगने से और कुछ पदचापों की आहत सुन लेने से इतने व्यथित हो गए ? जरा कल्पना करो पूर्वजन्म में तुम कौन थे। किस कारण से यहाँ आए हो। याद करो तुम केवल एक खरगोश को

बचाने के लिए तीन दिन और तीन रात तक अपना पाँव ऊँचा किए खड़े रहे। हाथी की योनि में खरगोश पर करुणा की और हाथी के रूप में संलेखना ली। पशु-योनि में उत्पन्न उस धर्म-ध्यान का स्मरण करो। आज तुम मनुष्य हो, लेकिन आर्त ध्यान की पीड़ा से भर रहे हो और पूर्व जन्म में जब तुम पशुयोनि में हाथी रूप थे, तब धर्म-ध्यान निष्पन्न हुआ था।'

अब हुआ मन का ऐसा सार्थक परिवर्तन, ऐसी चेतना का आविर्भाव कि संत राजकुमार चौंक गया और कहा, 'प्रभु, मुझे क्षमा करें। मैं नहीं पहचान पाया कि मैं वास्तविक रूप में कौन रहा, कौन हूँ, मुझे क्या होना है। अब तो केवल रात में ही नहीं, चौबीसों घंटे भी पाँवों से दुत्कारा जाएगा, ठोकर मारी जाएगी, तब भी यह बाल संत अत्यन्त सहिष्णुता और सहनशीलता के साथ स्वीकार करेगा। न केवल सहेगा बल्कि स्वीकार भी करेगा। मैं न जान पाया कि मैं कौन रहा, आप कौन रहे, मैं तो यही समझता रहा कि मैं एक राजकुमार और आप एक संत, पर हकीकत में आपने मुझ गिरते हुए को सम्हाल लिया। गिरते मन को थाम लिया।' परिणामतः मन की दशा बदल गई, आर्त ध्यान धर्म-ध्यान में परिणत हो गया। पाँव की आहट और ठोकर जो मन में उठापटक कर रही थी, अब वही सजगता और जागरूकता का पर्याय बन गई। धर्म-ध्यान निष्पन्न हुआ।

जो ध्यान पीड़ा और संत्रास के धरातल पर स्थिर हो, उससे बचना। जब किसी इष्ट का वियोग होगा, तब मन में पीड़ा जन्म लेगी। यह पीड़ा मन में अवसाद भरे विचारों का जाल फैलाएगी और यही है आर्तध्यान। अनिष्ट वस्तु के संयोग से और इष्ट वस्तु के वियोग से मन में जो ऊहापोह चलता है, वह आर्त ध्यान है। शरीर में होने वाले रोगों से व्यथित होकर निरंतर चलने वाला चितन भी आर्त ध्यान है। काम-भोगों की आकांक्षा और उसे प्राप्त करने का चितवन भी आर्त-ध्यान ही है।

उसे देखो, वह अपने रोगों के लिए चिंतित है। कोई अपने भोगों के लिए रात-दिन सोच रहा है। कोई अपनी पत्नी या प्रेमिका के किसी सुमधुर वचन का कायल है। ओह, मनुष्य का क्या, जिस ओर मन मूर्च्छित हो गया, मनुष्य का नजरिया उसी तक सीमित हो गया। ऐसा व्यक्ति उस पंछी की तरह है, जो पिंजरे से उड़ा भी दिया जाए, तब भी उसी पिंजरे की ओर लौटने की कोशिश करता है। विचित्र है पिंजरे का मोह।

कहते हैं: भगवान बुद्ध एक दिन अपने गृहस्थ-जीवन के राजमहल में पहुँचे। उनका भाई राज्य-संचालन करता था। वह समय बहुत अदब और विवेक का था। बुद्ध

उस राजमहल में आहारचर्या के लिए पहुँचे । उन्होंने विचार किया मैंने अपनी पत्नी और पुत्र का तो कल्याण किया है । क्यों न अपने भाई का भी कल्याण करूँ । भाई, जो अपनी पत्नी के साथ अठखेलियाँ कर रहा था, उसे सूचना मिली कि भगवान बुद्ध राजमहलों में आए हैं । भगवान आए हैं, यह जानकर, मजबूरी में ही सही, जाऊँ और उन्हें आहार दूँ । पत्नी ने कहा, जाओ प्राणप्रिय ! भाई को आहार दो, लेकिन ध्यान रहे मेरे ये गीले बाल सूखें, इससे पहले लौट आना । वह अपनी पत्नी को आश्वासन देकर बुद्ध के पास आता है । भोजन-चर्या होती है, बुद्ध लौटने लगते हैं । भाई का धर्म बनता है कि बुद्ध राजमहल तक आए तो वह उनके साथ जाए और उन्हें कुछ दूर तक अथवा बुद्ध के विहार तक पहुँचा दे । भाई पीछे-पीछे रवाना हो गया । आँख की शर्म ने फिर काम किया, भगवान बुद्ध के हाथ में भिक्षापात्र था । भाई ने सोचा, कुछ दूर तक यह पात्र अपने हाथ में ले लेता हूँ । बुद्ध चलते रहे - चलते रहे । भाई भी पीछे चल रहा था, पर यह हिम्मत न हुई कि बुद्ध से कहे कि मैं वापस लौट जाऊँ । यह कह न सका कि पत्नी ने घर से चलते समय कितने प्यार से कहा था कि मेरे सिर के बाल सूखें उससे पहले तुम लौट आना । उसके बाल अवश्य ही सूख गए होंगे, लेकिन बुद्ध को मैं कह नहीं सकता कि अपना पात्र थाम लो । मीलों चलते रहे ।

बुद्ध अपने गुणशील चैत्य-विहार में पहुँचे । मजबूरी हो गई कि अब बैटूँ और भगवान की देशना भी सुनूँ । भगवान ने देशना की । और यह इतनी वैराग्यवर्धक देशना थी कि कई लोग प्रभावित हो गए । भाई जो राजा भी था उसके सामने मजबूरी आ रही थी कि संन्यास ले या न ले । वह भी खड़ा हुआ, व्यवहारवश कि भाई स्वयं ही मना कर देंगे कि जाओ इतना बड़ा राज्य है उसे संचालित करो । खड़ा हो गया भाई का अदब रखने के लिए । वह बड़े अदब का युग था, अदब ही सही, उसने कहा ' भगवन् मेरे लिए भी संन्यास का सौभाग्य हो । ' भगवान् तो जैसे इसी की प्रतीक्षा कर रहे थे । तुरंत संन्यास की स्वीकृति दे दी, वस्त्र बदल दिए, सिर मुंडा दिया गया । वह कुछ कह नहीं पा रहा है, पर मन में जो धारा चल रही है महावीर कहते हैं बाहर में संन्यास घटित, भीतर आर्त ध्यान जारी ।

वर्षों तक वह संन्यासी भाई हर समय यही सोचता था ये बड़े-बड़े साधु भिक्षाचर्या कर रहे हैं, ये आतापना ले रहे हैं । क्या इनके मन में कामाग्नि नहीं सुलगती । अरे, ये किसके लिए आतापना ले रहे हैं ? इससे तो अच्छा है घर जाएँ और पत्नी के साथ जीवन के सुख भोगें । ये कितना कष्ट उठा रहे हैं । इस तरह मन निरंतर आर्त ध्यान में लगा रहा ।

उसकी पत्नी को भी उसके भिक्षु-जीवन ग्रहण करने की सूचना मिल चुकी थी। वर्ष बीत गये। एक दिन वह पत्नी के द्वार पर पहुँच ही गया। पत्नी ने उसकी वंदना की, पर आशीर्वाद के बदले जब अपने भिक्षु-पति के मुख से कामजनित शब्द निकले, तो वह विस्मित हो उठी। उसने अपनी देह की अशुचिता और नश्वरता की बात कहकर भिक्षु-पति की मानसिक सोच को रूपान्तरित किया। आर्तध्यान धर्म-ध्यान में रूपान्तरित हो गया। उसने पत्नी का आभार माना और लौट गये बुद्ध के पास, बुद्धत्व की भावना लिए।

आर्तध्यान की तरह ही एक और अशुभ ध्यान है जिसे रौद्र ध्यान कहा गया है। आर्तध्यान का संबंध पीड़ा से होता है, जबकि रौद्र ध्यान का संबंध क्रूरता से। मनुष्य के अन्तर्मन में क्रूरता से जुड़ी हुई जो बातें दिनरात चलती हैं, उनका संबंध रौद्र ध्यान से होता है। मनुष्य के हृदय में करुणा कम है, क्रूरता ज्यादा है। बुद्ध में और एक आम मनुष्य में इतना ही फर्क है कि बुद्ध में करुणा आ गई, क्रूरता चली गई। वे भी सबसे मिलते हैं, सामान्य व्यवहार करते हैं, दैनंदिनी भी सामान्य है, पर वे करुणा के सागर हो गए हैं। अगर क्रूरता रहती है तो रौद्र ध्यान और करुणा आ जाती है तो धर्मध्यान। क्रूरता का संबंध हिंसा, असत्य, चौर्य-कर्म और परिग्रह के संरक्षण से होता है।

अगर आपको यह जानने को मिल जाए कि एक मनुष्य में पशु से ज्यादा क्रूरता होती है, तो शायद आप मनुष्य से घृणा ही कर बैठें। 'विश्व-प्रसिद्ध शृंखला' में जो किताबें निकली हैं, उनमें विश्व के चर्चित क्रूरतम लोगों की जीवनी की पूरी पुस्तक ही है। यह क्रूरता क्या है? करुणा के निर्झर का सूख जाना ही क्रूरता है। क्रूरता यानी वैर-वैमनस्य का लावा सुलगते रहना।

मैं नित्य प्रति देखता हूँ कि व्यक्ति छोटे-छोटे जीवों के प्रति भी इतना क्रूर रहता है कि उन्हें समाप्त करने के उपाय करता रहता है। हम एक क्षुद्र प्राणी को भी अभयदान नहीं दे पाते। प्रश्न है जब हम किसी को जीवन नहीं दे सकते, तो किसी का जीवन लेने का हक हमें कहाँ से मिल गया।

कहते हैं कि दाउद इब्राहिम ने बंबई में विस्फोट करवाए, या किसी अन्य ने कहीं विस्फोट करवाए, या राजनेता किसी को पकड़वा देता है, किसी को मरवा देते हैं, क्यों? क्या वे इन्सान नहीं हैं, क्या उनके पास मन नहीं है, हृदय नहीं है? उनके पास सब हैं, वे इन्सान भी हैं, मन भी है, हृदय भी है मगर ध्यान रौद्र है। उनका चिंतन क्रूरता परक है। उनका मन हिंसा से, मृषा से, झूठ से, चौर्यकर्म से और परिग्रह के संरक्षण से

अनुबंधित है। आप जब रास्ता चलते किसी व्यक्ति को अकारण कुत्ते पर पत्थर फेंकता हुआ पाएँ तो समझ लेना कि वह आदतन क्रूर है। वह करुणाशील नहीं हो सकता। वह विश्वसनीय नहीं है। अगर कुत्ता आप पर आक्रमण करता या काटने दौड़ता, तो समझ में आता कि आप उस पर लाठी फेंकें या पत्थर मारें। पर अकारण यह आपसे कौन करवा रहा है? यह है मन में निरंतर चलने वाला रौद्र ध्यान।

आर्त और रौद्र दोनों ही अशुभ ध्यान हैं। दोनों ही मन को वैतरणी में डूबोते हैं। दोनों ही मानसिक शांति और मानसिक पवित्रता को खंडित और दूषित करते हैं। ध्यान के इस पक्ष पर मैं इसलिये बोल रहा हूँ ताकि हम इससे बच सकें और बढ़ सकें शुभ ध्यान की ओर, धर्म ध्यान की ओर।

ध्यान के विज्ञान का तीसरा चरण है धर्म-ध्यान। जिस चिंतन में जिस मनन और स्थिर अध्यवसाय में सदाचार और सद्विचार की प्रेरणा रहती है वह चिंतन धर्म-ध्यान का कारक है। जब मैं धर्म-ध्यान की बात कहता हूँ तो इसका मतलब किसी मजहब, सम्प्रदाय, गच्छ, या पंथ से नहीं है। मैं व्यक्ति को बाह्य आडम्बर, बाह्य प्रदर्शन, बाह्य विरोधाभासों के साथ नहीं जोड़ रहा हूँ। जब मैं धर्म-ध्यान की बात कर रहा हूँ तो किन्हीं जैनों की बात नहीं कर रहा हूँ। क्योंकि तब जैन दिगम्बर और श्वेताम्बर में बंट जाएगा। हिंदू समाज की बात भी नहीं कर रहा हूँ क्योंकि तब आर्य समाज और वेदान्ती अलग-अलग खड़े हो जाएँगे। ईसाई धर्म का उल्लेख करूँ तो धर्म शब्द हट जाएगा। कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट धर्म के विभाजन सामने आ जाएँगे। अगर नाम लूँ मुसलमानों का तो मुसलमान किनारे हो जाएगा शिया और सुन्नी मुख्य हो जाएँगे। इतना ही नहीं कि धर्मों में इतने विभाजन होंगे, बल्कि धर्म के नाम पर चलने वाले क्रियाकांड और आचरण भी विरोधाभासी होंगे। मनुष्य के सामने समस्या है कि वह किस धर्म को अपनाए और किसका आचरण करे।

आज धर्म का संबंध ध्यान से हट गया है, वह केवल क्रियागत होकर रह गया है। जीवन महज क्रिया-सापेक्ष नहीं होना चाहिए, जीवन हमेशा चिंतन और बोध-सापेक्ष होना चाहिए। अभ्यास नहीं, बोध चाहिए। धर्म-ध्यान आपके हृदय में जन्मे चित्त की विकार-विहीन अवस्था में, चित्त की सरलता और पवित्रता में ही मनुष्य का वास्तविक धर्म छिपा हुआ है। आत्मा की निर्मलता के साथ जीवन में जो आचरण सम्पन्न होता है, वह आचरण ही धर्म ध्यान है। जिस आचरण से हमें महसूस हो कि यह आचरण आत्म-सापेक्ष है, चित्त के विकारों को निर्मल करने में सहायक है। हमारा चरित्र बनाने

में आधारभूत है, वह धर्म-ध्यान का प्रेरक है। निर्मल और विधायक सोच ही धर्म-ध्यान का आधार है।

हम धर्मध्यान के द्वारा आर्त-रौद्र ध्यान पर नियन्त्रण करें, उसका रूपान्तरण करें। मन विपरीत और विकृत दिशा में बहता हो, तो उसे वह सूत्र दें कि मन सार्थक दिशा ग्रहण कर ले। आर्त-रौद्र ध्यान में उलझा मन जीवन का जहर है। धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान की ओर अभिमुख हुआ मन जीवन का अमृत है। काम-क्रोध-कषाय से गुजरता मन विष है, प्रेम-शांति-शुद्धि की डगर पर खड़ा मन अमृत है। विष को अमृत में रूपान्तरित करने का नाम ही धर्म-ध्यान है।

कुमारी मल्लि के प्रति छः-छः राजकुमार आसक्त हो उठे थे। सभी उससे विवाह करना चाहते थे। मल्लि ने उनके मन की धारा को समझा। उसने अपनी एक प्रतिमूर्ति बनवाई। उस मूर्ति का ढक्कन खोलकर रोजाना उसमें वह भोजन डाल देती, जैसा वह स्वयं करती। ढक्कन फिर बंद कर दिया जाता। यह एक महीने तक उपक्रम चला। आखिर, मल्लि ने सभी राजकुमारों को एक साथ आमंत्रित किया। राजमहल में खड़ी खूबसूरत मूर्ति को ही उन्होंने मल्लि समझा। पर जब वास्तविक मल्लि ने महल में आकर मूर्ति का ढक्कन खोला तो वे ठगे रह गये। लगे नाक-मुँह पर रूमाल लगाने। मल्लि ने कहा, जिस मल्लि के प्रति तुम मूर्च्छित बने हुए हो, उसकी काया भी यही भोजन ग्रहण करती रही है। तुम मल-मूत्र की इस काया के प्रति इतने मूर्च्छित हो रहे हो। सोचो, आखिर यह काया क्या है, इसका क्या परिणाम है, तुम्हारा बोध और पौरुष क्या नारी की मूर्च्छा में ही मिट जाएगा ?

मूर्च्छित मन को बोध की दिशा मिल जाए, तो मुक्ति का द्वार खुल जाता है। राजकुमार सचेत हुए, उनकी जीवनमुक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। मन की धारा का शुभ की ओर मुड़ना ही धर्मध्यान है। अपने मन से सावधान। यह पागल मन तुम्हें कहीं भटका न दे। तुम उन्नत विचारों के मालिक बनो।

ध्यान के विज्ञान का अंतिम चरण है शुक्ल ध्यान। ध्यान की पवित्रतम, उज्वलतम और उत्कृष्टतम अवस्था शुक्ल ध्यान है। धर्म-ध्यान में शुभ विषयों पर चित्त स्थिर होता है। शुक्ल ध्यान में न शुभ रहता है, न अशुभ। शुभ और अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है व्यक्ति शुक्ल ध्यान में। पाप और पुण्य दोनों से ऊपर उठ जाता है, अधर्म से ही नहीं, धर्म से भी ऊपर उठ जाता है। जिस ध्यान की मदद से मनुष्य के कर्मों की निर्जरा होती है, आत्म-ज्ञान और आत्म-बोध प्राप्त होता है, संसार से स्वयं के

पृथकत्व का अहसास होता है, जिससे मनुष्य को स्वयं के निजत्व और एकत्व का भान होता है, जिससे वह क्रियाओं से निवृत्त होता है और जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने अन्तर्मन की, अचेतन मन की सूक्ष्म वृत्ति और क्रिया से मुक्त होता है उस हर ध्यान, हर प्रवृत्ति, हर दृष्टि का नाम शुक्ल ध्यान है। यही तो वह ध्यान है, जिसके सध जाने पर चित्त का पूर्ण निरोध होता है। इस ध्यान के सध जाने पर व्यक्ति उन ऊँचाइयों का स्पर्श करता है जिसे कैवल्य कहते हैं। यहीं व्यक्ति बोधि-ज्ञान और बोधि-लाभ को उपलब्ध होता है। मनुष्य तो रहता है, पर मन से मुक्त हो जाता है। मन विसर्जित हो जाता है, मात्र चैतन्य-स्वरूप शेष रहता है। तब ऐसा होता है कि महावीर के सामने गोशालक आता है और धुँआधार अपशब्द कहता है, उनका अपमान करता है, मजाक बनाता है। महावीर के सामने दो-दो पात्र एक जैसे होते हैं। एक ओर गोशालक, दूसरी ओर गौतम। गौतम महावीर की आज्ञा में और गोशालक महावीर को बेइज्जत करने में। लेकिन शुक्ल ध्यान ऐसा कि महावीर प्रतिक्रिया-मुक्त रहते हैं। अपमान के बदले भी मुस्कान लौटाते हैं। यहाँ तक कि गोशालक अग्नि और तेजोलेश्या का प्रयोग भी कर लेता है, महावीर तब भी मौन और शीतल रहते हैं। महावीर उसकी तेजोलेश्या को भी स्वीकार कर लेते हैं।

बुद्ध को कोई ब्राह्मण अनगिनत गालियाँ देता है और जब गालियाँ देते-देते थक जाता है, तब बुद्ध केवल इतना ही कहते हैं, 'ब्राह्मण मुझे इतनी-सी बात बताओ अगर तुम्हारे यहाँ कोई अतिथि आए और तुम उसके लिए थाली परोसो और वह खाना न खाए तो वह भोजन किसके पास रहेगा।' ब्राह्मण ने कहा 'सीधी-सी बात है अगर भोजन मैंने परोसा है और वह अतिथि न खाए तो मेरे पास ही रहेगा।' बुद्ध ने कहा, 'तुमने मुझे भोजन परोसा, मैंने स्वीकार नहीं किया।' जहाँ इस तरह का चिंतन है, ऐसी दृष्टि है, ऐसा ध्यान है, महावीर इसे शुक्ल ध्यान की संज्ञा देते हैं।

धर्मध्यान वैराग्य का आधार है, जबकि शुक्ल ध्यान वीतरागता का। वैराग्य संन्यास है, राग संसार है, जबकि वीतरागता संसार और संन्यास से ऊपर उठ जाना है। वीतराग प्रिय-अप्रिय, स्व-पर, हीन-महान की हर भेद-रेखा से ऊपर उठ जाता है। वह आत्मा में जीता है। आत्मा में जीना ही पूर्णता की अनुभूति करना है। वीतराग तो सदा-सर्वदा आनन्दित रहता है, कृतकृत्य रहता है। जो होता है, उसे संयोग भर मानता है।

जो होता है, वह होना है, इसलिए होता है, फिर होनी से कैसा बचना। जो नहीं

होता है, वह नहीं होना है, इसलिए नहीं होता। फिर अनहोनी से कैसा डर रखना। साधक तो सदा-सर्वदा सरल-सौम्य-सुवासित रहे। जैसे सागर किनारे खड़ा नारियल का पेड़ भले ही सागर का खारा जल स्वीकार करता जाता है, लेकिन जब फल लौटाता है तो डाब और नारियल के रूप में। शीतल-मधुर-स्वादियुक्त जल; धवल-सौम्य-सरस गिरी।

तुम शांत मन के स्वामी बनो। व्यर्थ सोचो मत। सोचने जैसा कुछ नहीं है। जागो। जाग रहा हूँ, ऐसा जानो। देहानुभूति की बजाय द्रष्टा हूँ, ऐसा बोध प्रवर्तित करो। अपने बोध के दीप को हाथ में रखकर जीवन और जगत के पथ पर बढ़ना लोकचक्र में धर्मचक्र का प्रवर्तन है।

आर्तध्यान और रौद्र ध्यान का तमस् हमारे जीवन से कम होता जाए, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का प्रकाश हमारे जीवन के क्षितिज में उभरता रहे। हमारा जीवन रोशन होता जाए। प्रकाशित होता जाए। ध्यान का यह विज्ञान हर व्यक्ति अपने हृदय में उतारे। साधक साधना की ओर बढ़े, पर मैंने ये जो कुछ संकेत दिए हैं, उन्हें सदा ध्यान रखें। चित्त की धारा को राग-द्वेष के संकल्प-विकल्प से मुक्त रखें। स्वयं को सदा आत्मविश्वास और आन्तरिक शांति से ओतप्रोत रखें। भगवान करे हम सभी प्रकाश के स्वामी बनें, धर्म के, शुक्ल ध्यान के स्वामी बनें।

नमस्कार।



ध्यान और विश्व का भविष्य

मेरे प्रिय आत्मन्,

प्रश्न है : ध्यान का मूल अर्थ क्या है ? इसमें निर्विचार होने पर जोर दिया जाता है पर जब तक ऐसा न हो ध्यान में कौन-सा विषय या विचार होना चाहिये ।

संसार के श्रेष्ठतम मार्गों और प्रयोगों में एक है ध्यान । ध्यान में मनुष्य के जीवन का सम्पूर्ण विज्ञान छिपा हुआ है । ध्यान तो धरातल है मनुष्य के अतीत को सँवारने का, वर्तमान को बनाने का, भविष्य को सुधारने का । विश्व का जो मनोविज्ञान मनुष्य को उसके जीवन के समाधान देना चाहता है अगर हम मन के सारे समाधानों को कोई भी नाम और मार्ग देना चाहें तो वह है ध्यान । अशान्ति की दवा ध्यान है और शान्ति की बाँसुरी भी ध्यान ही । व्यक्ति पदों से एक दिन तृप्त हो सकता है, पैसा कमाते थक सकता है, नामगिरी से ऊब सकता है, लेकिन ध्यान तो वह मार्ग है, वह फिजा है, वह रोशनी है, जो उसकी हर थकावट, हर उचाट को मिटाती है और उसे सुबह के खिले हुए फूल की तरह तरोंताजा कर देती है ।

मुझे ध्यान से प्रेम है । ध्यान मेरे प्रति बहुत सहज है और मैं ध्यान के प्रति । मैं ध्यान में जीता हूँ, ध्यान से जीता हूँ, क्योंकि ध्यान मेरे लिए विश्राम है, आनन्द है, शान्ति है, सहजता है । ध्यान में ऊर्जा के कण छिपे हैं, वह हमें ऊर्जस्वित करता है । ध्यान की चेतना जब हमारी अपनी चेतना से एकाकार होती है, तो हम एक अलग ही पुलक भाव

से भर उठते हैं, हमारी चेतना तेजोमय हो जाती है। ध्यान हमें चैतन्य कर देता है। मैंने शान्ति के क्षणों में तो ध्यान किया ही है, अशान्ति के क्षणों में भी ध्यान से गुजरा हूँ। मैंने ध्यान से अशान्ति को विचलित होते हुए पाया। प्रेम के क्षणों में तो ध्यान में होता ही हूँ, क्रोध के क्षणों में भी ध्यान में उतर के मैंने जाना है कि ध्यान के द्वारा क्रोध कैसे शान्त होता है, क्रोध किस तरीके से क्षमा और करुणा में तब्दील हो जाता है। निर्मलता के क्षणों में तो ध्यान आत्मसात रहता ही है, विकृति के क्षणों में भी अगर ध्यान की चेतना की किरण हृदय में उतार दी जाये तो हम अपने आपको निर्विषय पाकर चमत्कृत हो उठेंगे।

ध्यान अपने आपके प्रति सजग होना है। अपने-आप में होना है। रागद्वेष के तंतुओं में बिखर रही अपनी चेतना को अपने आप में लौटा लाना ही ध्यान है। जब तुम हर ओर से अपने आप में लौट आते हो, अपने आपमें होते हो तब तुम ध्यान में ही हो, ऐसा कहा जाएगा। ध्यान का अर्थ है, लगना। अपने-आप में लगना। विश्राम में लगना। अपनी शांति में विश्राम करना यही ध्यान है। दुनिया में ध्यान के नाम पर जितने भी प्रयोग हैं, वे सब अपने आप में आने के लिए ही हैं, अन्तर्यात्रा के लिए ही हैं। प्रयोगों में जो परिवर्तन दिखायी देते हैं, वे सब चित्त की धारा को तोड़ने के लिए हैं। उसकी चंचलता और उच्छृंखलता को मिटाने के लिए हैं। तुम बस एक बार वह कला पा लो कि चित्त को किस तरीके से, व्यक्ति से, परिस्थिति के निमित्त से, राग-द्वेष जनित भाव से हटाकर अपने आप में शान्त हुआ जाता है, विश्राम लिया जाता है, सहज प्रमोद एवं आनन्द-भाव में अधिष्ठित हुआ जाता है तो तुम ध्यान-सिद्ध हुए, तुमने ध्यान की चाबी हासिल कर ली। ध्यान तुम्हारे लिए फिर वैसा ही सहज होगा जैसे पानी पीना, मुस्कुराना, नृत्य करना, गीत गुनगुनाना।

आपने पूछा है 'ध्यान में निर्विचार होने पर जोर दिया जाता है।' ध्यान तो बहुत सहज है। ध्यान की किसी भी बात के लिए कोई जोर-जबरदस्ती नहीं है। जोर देने से बात बनती भी नहीं है। सहज में ही बात जिगर में उतरा करती है। निश्चय ही निर्विचार होना ध्यान का ही एक चरण है, पर हर व्यक्ति निर्विचार/निर्विकल्प स्थिति तक पहुँच जाए, यह संभव नहीं लगता। मैं जब निर्विचार होने की बात कहता हूँ, तो इसका सीधा-सा अर्थ है शान्त मन का स्वामी होना, मन की उधेड़बुन से अपने-आपको मुक्त करना। तुम अगर एक बोध हर समय अपने साथ बनाये रखो कि मैं सहजता से अपना जीवन जीऊँगा और क्रिया-प्रतिक्रिया की माथा पच्ची से अपने आपको बचाकर रखूँगा तो मेरे हिसाब से तुमने शान्ति का सूत्र पा लिया। तुम शान्त मन के स्वामी होकर जी सकोगे।

प्रश्न के अन्तिम चरण के लिए यह संकेत देना चाहूँगा कि अपने आपको रचनात्मक विचारों एवं रचनात्मक कार्यों से जोड़ो। आज हमारे विचार की चाहे जैसी स्थिति हो, हम अपने चित्त को नकारात्मक भूमिका से हटाएँ और सकारात्मक पहलुओं से जोड़ें। दुनिया की व्यर्थ से व्यर्थ वस्तुओं को भी अगर सकारात्मक मोड़ दे दिया जाये, तो वही विश्व के लिए वरदान बन जाया करती है। तब वह व्यर्थ पहलु भी रचनात्मक हो जाया करता है।

व्यर्थ कोई भाग जीवन का नहीं है,
व्यर्थ कोई राग जीवन का नहीं है।
बाँध दो सबको सुरीली तान में तुम,
बाँध दो बिखरे सुरों को गान में तुम।

अपनी बिखर रही ऊर्जा को हम समीकरण का आयाम दें। जिन्हें हम बिखराव समझते हैं, तनाव समझते हैं, घुटन समझते हैं, उन्हें जरा शान्ति से समझो, अपने आपको जीवन की प्रसन्नता का स्वर दो। अपनी अंगुलियों से संगीत को जन्म लेने दो। अपने सुरों को गीत में ढलने दो। जीवन तुम्हारे लिए प्रकृति का प्रसाद है, ईश्वर का वरदान है। हम जीवन को, जीवन के भाव से जीयें, आनन्द-भाव से जीयें। मैं तुम्हारे कानों में धीरे से यह बात कह देना चाहता हूँ—‘हाँ, यही ध्यान है।’

इस वर्ष मुझे संबोधि-ध्यान-शिविर में भाग लेने का सौभाग्य मिला है। इससे पूर्व मैं विपश्यना और प्रेक्षा-शिविर में भी भाग ले चुका हूँ। यहाँ मुझे ध्यान के कुछ नये अनूठे तरीके जानने को मिले हैं। आपने शिविर के साथ योगासन भी जोड़े हैं। योगासनों से ध्यान में कोई विशेष मदद मिलती है या यह स्वास्थ्य की दृष्टि से स्वीकार किया गया है।

मेरे प्रभु, यह आपकी अपनी रुचि एवं जिज्ञासा का परिणाम है कि आप ध्यान के प्रति आस्था रखते हैं और जिनकी ओर से भी ध्यान के विकास के लिए शिविर आयोजित किये जाते हैं आप उसमें शरीक होते रहे हैं। लगता है आपकी चेतना की प्यास अभी तक उत्कंठित है। इसीलिए पानी पीने के लिए कई पनघटों की तलाश जारी है। ध्यान की विधि कोई भी क्यों न हो, सभी अच्छी होती हैं। कोई किसी से कम नहीं होती। विपश्यना, प्रेक्षा, डायनामिक या कुंडलिनी ध्यान—सभी ध्यान के अच्छे प्रयोग

हैं, लेकिन तुम अपने आपको, ध्यान के प्रयोग को, ध्यान की आंतरिक गहराई को महज विधि-सापेक्ष नहीं बना देना, हर विधि अन्तर-प्रवेश के लिए होती है। अन्तःकरण में उतरने के बाद हर विधि अर्थहीन हो जाती है। विधि मार्ग पर चलने की तरह है। जैसे सीढ़ी ऊपर के तल तक पहुँचने के लिए होती है वैसे ही विधि है। मंजिल पर कदम रखने के बाद तो सीढ़ी पर ध्यान ही नहीं दिया जाता। निश्चय ही ध्यान अध्यात्म का एक दिव्य मार्ग है, लेकिन इससे भी बड़ा सत्य यह है कि ध्यान मार्ग-रहित मार्ग है। द्वार-रहित द्वार है, विधि-रहित विधान है।

संबोधि-ध्यान किसी विधि का नाम नहीं, वरन् बोधपूर्वक ध्यान में उतरने का नाम ही संबोधि-ध्यान है। संबोधि-ध्यान हर पल तुम्हें इस बात का स्मरण दिलाता है कि तुम्हारा सम्यक् बोध ही तुम्हारा ध्यान है। ध्यान का सतत स्मरण रहना ही सम्यक् बोध को, संबोधि अपने आप में जीना है। संबोधि-ध्यान तो एक ऐसी विशाल छतरी है कि जिसके तले कई-कई नये प्रयोग हुए हैं और कई-कई विधियों को आनन्द-भाव से बसेरा मिला है। जीवन का कोई भी मार्ग क्यों न हो, फिर चाहे उसका प्रतिपादक कोई भी क्यों न रहा हो, अपने लोगों को स्वीकार कर लेना चाहिये, जिससे भी हमारे जीवन में कुछ फलित होता हुआ नजर आये। दुनिया का कोई भी मार्ग उपयोगी हो, उसे स्वीकार करने में कैसा संकोच। आखिर हर उपयोगी वस्तु मानवता की, प्राणिमात्र की आवश्यकता है।

जिन्होंने भी ध्यान के विविध प्रयोग दिये हैं, उनका उनके प्रयोग के प्रति आग्रह हो सकता है जबकि अपने लोगों को उस मुक्त आकाश की तरह होना चाहिये जिसमें हर पंछी को उड़ान भरने की आजादी हो। मेरा न किसी विधि का आग्रह और न किसी पंथ का और न ही किसी ग्रन्थ का। तुम विराट दृष्टि रखो, दुनिया में अच्छे मार्गों की, अच्छे लोगों की कमी नहीं है, जो भी तुम्हें अपने जीवन के मुआफिक लग जाये तो यह सोचे बगैर कि तुम उस पंथ के अनुयायी हो या नहीं, स्वीकार कर लेना। व्यक्ति की विशाल दृष्टि में ही विशाल विश्व और विशाल संभावनाएँ छिपी हुई हैं। अच्छी बात तो दुश्मन की भी क्यों न हो, ग्रहण करने योग्य होती है।

महत्व यह नहीं है कि कहीं योगासनों का महत्व स्वीकार किया गया है या नहीं। तुम्हारे लिए महत्व इस बात का है कि योगासन जीवन के लिए अनिवार्य है या नहीं। अपने लोग नयी सहस्राब्दी की ओर कदम बढ़ा रहे हैं। जिस तरह से रक्तचाप की, हृदय-रोग की, मानसिक तनाव की निरन्तर बढ़ोतरी देखने को मिल रही है; उसे

देखते हुए हर व्यक्ति के लिए औषधि से भी ज्यादा जरूरी ध्यान, योगासन और प्राणायाम हैं। सम्पूर्ण विश्व को एक स्वस्थ विश्व देखने के लिए इन तीन चीजों को हर किसी से जोड़ दो। तुम ताजुब करोगे कि दुनिया से रोग मिट गये, शस्त्र-अस्त्रों की आवश्यकता न रही। पारस्परिक दूरियाँ और मनमुटाव मिट गये। लोग बहुत ही सहज, स्वस्थ और आनन्दित जीवन के स्वामी बन गये।

संभव है अतीत में कभी ध्यान, योग और प्राणायाम आम आदमी की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि तब लोगों में इतना मानसिक तनाव, इतनी दूरियाँ और इतने रोग नहीं थे; लेकिन अब विश्व को नये दौर में इन अद्भुत चीजों को देर-सबेर स्वीकार करना ही होगा। यह तो जीवन की संजीवनी है। बगैर इसके कोई उपचार नहीं है। विज्ञान के इस युग में बहुत जल्दी ही आम आदमी को यह समझ आ जायेगी कि योगासन, प्राणायाम और ध्यान किसी धर्म के प्रवचन नहीं वरन् जीवन-विज्ञान के चरण हैं। शायद मेरी ओर से इतना अनुरोध काफी है।

* लाओत्से ने 'वेई-वू-वेई' की अवस्था का जिक्र किया है यानि अक्रिया से निकली हुई क्रिया। कृपया इसका रहस्य समझायें।

'वेई वू वेई' साधना की एक बहुत गहरी अवस्था है। झेन ने जिसे सतोरी कहा है, लाओत्से ने उसी को वेई वू वेई कहा है। यह अवस्था वास्तव में संबोधि की ही साधना है। जीवन में सम्यक् बोध और सम्पूर्ण बोध के फूलों का खिलना ही संबोधि है। 'वेई वू वेई' ध्यान में घटित होने वाले साक्षित्व की परिणति है। 'वेई-वू-वेई' का अर्थ है अक्रिया से क्रिया में प्रवेश, साक्षी का संसार में प्रवेश।

साधक के लिए क्रिया ऐसे ही है जैसे किसी निराश के लिए आश्वासन या बतौर पुरस्कार के सान्त्वना। क्रिया अभ्यास है, अक्रिया मुक्ति का प्रवेश-द्वार। मुक्ति में प्रवेश क्रिया से नहीं, अक्रिया से होता है। लाओत्से जिस क्रिया की बात कहते हैं, वह अक्रिया की घटना घटित होने के बाद फलित होता है। क्रिया करना है। अक्रिया करने के भाव से मुक्त होना है। कर-करके अब तक हम क्या पा सके। करने से पाप कमाया जा सकता है, पुण्य किया जा सकता है। अब तक पाप-पुण्य का संचय तो बहुत होता रहा, लेकिन मुक्ति फलित न हुई। हमने शरीर से कितना कुछ किया, मन और वाणी का कितना उपयोग किया! मनुष्य की हर क्रिया तो अन्ततः शारीरिक, मानसिक, वाचिक चेष्टा ही कहलाएगी। साधना का सम्बन्ध शरीर और उसकी क्रिया के साथ कम, विशुद्धतः चेतना के साथ ही अधिक है। मुक्ति-सूत्र में आप सभी गुणगुनाते हैं—

कितने जनम मन वचन तन से,
श्रम किया, पीड़ा सही ।
दुर्भाग्य किन्तु दूर हमसे,
मुक्ति की मंजिल रही ।

ध्यान क्रिया नहीं है । अपने-आप में विश्राम है । ध्यान करना नहीं पड़ता, अपने आप में होना ही ध्यान है । महावीर और बुद्ध ने संन्यास लिया था । महावीर ने अपने साधनात्मक जीवन में कोई क्रिया की हो, ऐसा देखने को नहीं मिलता । वे हर प्रकार के करने के भाव से मुक्त हो गये । जो हो रहा है उसके भी मात्र ज्ञाता-द्रष्टा । उनका कैवल्य अक्रिया में से उजागर हुआ प्रकाश था । आत्म-निर्मलता का परिणाम था । बुद्ध ने संन्यास लेने के बाद क्रियाओं को अपने जीवन से जोड़ा, कई तरह की क्रिया और कर्म किये, लेकिन बात हाथ न लगी । क्रिया के मार्ग से वे निष्फल रहे । जैसे ही वे करने के भाव से मुक्त हुए, वे अपने आप के हो गये । वे संबुद्ध हो गये ।

बीसवीं सदी के एक गहरे आत्म-साधक हुए—राजचन्द्र । उस साधक ने अपने जातिस्मरण में जाना कि उसके द्वारा अतीत में भी यम-नियम-संयम का पालन हुआ । आसन-पद्मासन लगाये गये, श्वास-निरोध की भी प्रक्रिया हुई, लेकिन उस साधक की अन्ततः यही अन्तर-पीड़ा उजागर हुई, अभी भी हाथ कुछ न लगा । वे ध्यान में निमग्न हो गये । हर करने के भाव से मुक्त हो गये । वे आत्मस्थ हो गये, आत्म-सिद्धि को उपलब्ध हो गये ।

लाओत्से कहते हैं, अक्रिया से निकली हुई क्रिया । मुक्त होना उनसे जिन्हें हम क्रियाओं की संज्ञा देते हैं । अक्रिया की स्थिति घटित हो जाये तो फिर जो भी क्रिया होगी, वह साधक का आनन्द होगा । साक्षी की प्रस्तुति होगी । ऐसा व्यक्ति फिर अगर चलेगा तो उसके चलने में भी नृत्य होगा । चैतन्य महाप्रभु अगर चिड़ियों की चहचहाट सुनते तो जंगल में अकेले ही अहोनृत्य से झूम उठते । वे पत्तियों में प्रभु को देखकर मुस्कुराया करते और झील में निराकार का प्रतिबिम्ब देखकर अहोनृत्य कर उठते ।

तुम्हें देख क्या लिया कि कोई,
सूरत दिखती नहीं पराई ।
तुमने क्या छू दिया बन गई,
महाकाव्य गीता चौपाई ।
कौन करे अब मठ में पूजा,

कौन फिराये हाथ सुमिरनी,
 जीना हमें भजन लगता है,
 मरना हमें हवन लगता है ।
 याद तुम्हारी मन में हो तो,
 मग हर वृंदावन लगता है ।
 अपने में मधुवन लगता है ।

ऐसा साक्षित्व घटा कि अब तो सारा परायापन चला गया । सारा संसार तुम्हारा हो गया । साधक विश्व-मित्र हो गया । सबका कल्याण मित्र हो गया । तुम अपनी साधना को क्रिया-भाव से जितना मुक्त करोगे, अपने आप में होने में जितने लयलीन बनोगे, तुम्हारा वास्तविक सौरभ उतना ही उद्घाटित होगा । कमल कीचड़ से ऊपर उठेगा । तुम मुक्त बनोगे, आकाश की तरह उन्मुक्त ! साधुवाद लाओत्से को जो स्वयं वेई-वू-वेई से गुजरे और साधुवाद होगा तुम्हारे लिए जब तुम इस दिव्य मार्ग से गुजरोगे । धन्यघड़ी, धन्यभाग, जब हकीकत में ऐसा होगा ।

नमस्कार ।



जीवन जिएँ अन्तर्हृदय से

मेरे प्रिय आत्मन्,

मनुष्य के जीवन-विज्ञान के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं। एक है मनोविज्ञान दूसरा है हृदय-विज्ञान। मनोविज्ञान पश्चिमी चिंतन की देन है और हृदय-विज्ञान भारतीय मनीषा का अवदान है। जीवन के बाहरी व ऊपरी पहलुओं को समझने के लिए मनोविज्ञान है, किंतु जीवन को उसकी आंतरिक गहराइयों के साथ जीने का विज्ञान हृदय-विज्ञान है ! धरती के समक्ष आज केवल मनोविज्ञान ही उभरकर आ रहा है, किंतु जब तक मनुष्य हृदयवान नहीं होगा, तब तक उसकी बौद्धिक क्षमता और मनस्विता उसे जीवन की कोमलता, सरसता और जीवंतता नहीं दे पाएगी।

आत्मवान होने के लिए हृदयवान होना आवश्यक है और हृदयवान होने के लिए एक मनस्वी और चिंतक का जन्म लेना जरूरी है। मनीषी और चिंतक होना पहला चरण है, हृदयवान होना दूसरा चरण, आत्मवान होना तीसरा चरण। मुक्त व्यक्तित्व के ये तीन चरण हैं। पश्चिम ने मनुष्य के शरीर की आंतरिक चिकित्सा के लिए मनोविज्ञान के कई महत्वपूर्ण घटक बताए। अगर समझना हो मनुष्य के चेतन मन को, उसके अवचेतन जगत को, मन के अचेतन धरातल को तो मनोविज्ञान के द्वार पर दस्तक दो। और अगर जीवन को उसकी गहराइयों तक जाकर जीना हो तो बिना हृदय-विज्ञान को आत्मसात् किए व्यक्ति सही रूप में मौलिक व्यक्तित्व का स्वामी नहीं बन सकता।

शरीर और जीवन प्रकृति-प्रदत्त पुरस्कार है। कुदरत से मिली महान सौगात है। यह शरीर जिसे ज्ञानियों ने नश्वर और क्षणभंगुर कहा, वह भी परमात्मा का ही मंदिर है। इसे हम केवल शरीर की दृष्टि से ही न देखें, क्योंकि शरीर तो पशु और पक्षियों का भी होता है। और अगर मन के आधार पर जीवन के सारे मापदंडों का निर्णय करेंगे तो मन में बहुत ही कचरा भरा है, पशुता की धूल जमी है। हम केवल मन के आधार पर जीवन के मापदंडों का सही निर्णय नहीं कर पाएँगे। मन मंदिर है या मरघट, तुम्हें पता है। मन में समाधि है या संसार यह भी तुम अच्छी तरह जानते हो। मन में काया के प्रति आकर्षण है या कायनात (आकाश) का दर्शन हो रहा है इससे भी तुम अच्छी तरह वाकिफ हो। मन में ऐसा कुछ नहीं लगता कि प्रार्थनाओं में पुकारा जाए कि आओ प्रभु तुम मेरे मंदिर में आओ। कौन-सा मंदिर? क्या तुम पाते हो कि तुम्हारा मन मंदिर है? मन में क्या इतनी स्वच्छता है कि उसमें देवत्व को आमंत्रित किया जा सके? ईश्वर उसके अन्तरघट में अवतरित होते हैं, जिसमें मन में पलने वाला कषाय और पशुत्व नहीं है। योग्य स्थान पर ही योग्य लोग आसीन होते हैं।

ऐसा हुआ कि एक बार कोई सम्राट् संत से मिलने गया। संत श्री कुटिया में नहीं थे। उनका शिष्य वहाँ था। उसने कहा, संत श्री अभी थोड़ी देर में आते ही हैं। आप बैठ जाइए। लेकिन सम्राट् ने कहा, नहीं, ठीक है। मैं यहाँ खड़े रहकर ही प्रतीक्षा कर लेता हूँ। कुछ समय और व्यतीत हो गया। संत साहब न आ पाए। तो शिष्य ने फिर निवेदन किया कि आप बैठ जाएं। लगता है, संत श्री को आने में कुछ देर हो रही है। सम्राट् ने कहा, मैं कुटिया के बाहर टहलता हूँ। वह बाहर आकर घूमने लगा। कुछ देर बाद संत वापस आए। सम्राट् भी उनके साथ कुटिया में अंदर आ गया। संत ने आसन बिछाया और सम्राट् को बैठने के लिए कहा। सम्राट् बैठ गया। दोनों के मध्य वार्तालाप हुआ और कुछ समय बाद सम्राट् चला गया। तब शिष्य ने अपने गुरु से पूछा, मुझे एक बात समझ में नहीं आई कि मैंने उस व्यक्ति से कितनी बार कहा कि बैठ जाओ, पर वह नहीं बैठा और आपके कहने पर बैठ गया। संत ने बताया, जानते हो वह कौन था? वह इस देश का सम्राट् था और जब तक उचित आसन न हो, उचित सम्मान न हो, वह कैसे बैठ सकता है।

सम्राट् को उचित आसन न मिले तो वह नहीं बैठता और परमात्मा को जब तक उचित स्थान नहीं मिलता तब तक वहाँ पर वह लीला-विहार नहीं करता। अपने मन की ऐसी पावन स्थिति बना लो कि परमात्मा स्वयं वहाँ प्रवेश करे। अभी तो वह कैसे आए। अभी तो न जाने कितना कचरा भरा हुआ है। अभी तो लोभ-लालच,

छल-कपट, पाप-प्रपंच भरा है। क्या ऐसी स्थिति देख पा रहे हो कि तुमने पुकारा और भगवान चले आएँ। भोला भंडारी भोला जरूर कहलाता है, पर वह इतना भोला भी नहीं है।

मन मनुष्य का रोग है और हृदयशील होना मन के रोग का समाधान है। जब तक मन में जकड़े हो, तब तक क्रोध, काम, विकार, लोभ, लालच, आसक्ति, परिग्रह में उलझे रहोगे। अन्तर में झाँककर धीरज से देखोगे तो जानोगे कि अपना मन कैसा है। क्या मन में मनुष्य का जन्म हो गया है या वानर ही कुलांचे भर रहा है। मनुष्य अभी मनुष्य रूप में पैदा हुआ ही कहाँ है, आकृति मनुष्य की हो गई, प्रकृति तो अभी भी पशु की ही है। मनुष्य का विकास वानर से नहीं हुआ। मनुष्य अभी भी वानर ही है। मनुष्य को पैदा होना शेष है। मन मनुष्य हो जाए, तो मनुष्यत्व सार्थक हो। हमारे मन को लोभ के कब्ज ने जकड़ लिया है। जब कब्जियत हो जाती है तो सारा ध्यान कब्ज पर टिक जाता है और शरीर रोगी हो जाता है। स्वस्थ होने के लिए पेट का मल निकलना जरूरी है। ठीक उसी तरह स्वस्थ मन के लिए लोभ का बाहर निकलना जरूरी है। स्वस्थ जीवन के लिए मन का स्वस्थ होना अनिवार्य पहलू है।

मैं देखा करता हूँ कमल और कीड़े को, जो दोनों कीचड़ में उत्पन्न होते हैं, लेकिन एक ऊपर उठ जाता है, दूसरा उसी में धँस जाता है। हमारी स्थिति भी क्या उसी कीड़े जैसी है कि हम संसार के कीचड़ में फँसते ही चले जाते हैं। देखता हूँ मकड़ी जाला बुनती है, दूसरों को फँसाने के लिए, लेकिन एक दिन खुद ही अपने जाले में उलझ जाती है। क्या हमारा मन भी जाल नहीं बुन रहा है, दूसरों को फँसाने के लिए? लेकिन होता यह है कि हम ही जाल में फँसकर रह जाते हैं।

हमारा मन लोभी है, लालची है। क्रोध का सर्प फुँफकारता ही रहता है। इसलिए जब तक मनुष्य के मन में बैठा हुआ पशु, उसके भीतर बसा शैतान जब तक मनुष्य से अलग नहीं होगा, तब तक मनुष्य का जन्म हो ही कैसे सकता है। हम अपने ही मन की कमजोरियों में फँसकर पशु हो गए हैं। इसके पाश इतने गहन हैं कि छूटने का उपाय भी नजर नहीं आता। ये पाश कोई संसार के नहीं हैं। हमारे ही मन के पाश हैं। अगर विश्वामित्र फिसलते हैं तो दोष भले ही मेनका पर जाए, लेकिन सचाई यह है कि विश्वामित्र जब भी फिसलेगा अपने मन की कमजोरी के कारण ही फिसलेगा।

रज्जब ते गज्जब किया, सिर पर बांधा मौर,
आया था हरिभजन को, करे नरक को ठौर ॥

तुम आए तो थे एक महान लक्ष्य को लेकर, लेकिन यह क्या कर डाला। रज्जब एक महान संत हुए हैं। वे अपने गुरु से संन्यास की दीक्षा लेने वाले थे कि एक रूपसी के मोह में पड़ गए और विवाह रचा लिया। तब गुरु ने चेताया कि तुम तो हरि-भजन करने आए थे यह क्या कर दिया। समझदारी खरीदने निकले और बेवकूफ बन गए। चमत्कार दिखाने निकले और रंगे हाथों पकड़े गए। गुरु के वचन काम कर गए और रज्जब होश में आ गए। सेहरा सिर से उतारकर नीचे रख दिया। हमें यह होश कब आएगा। हम कब जगेंगे। वे जग गए और निकल गए। मन के मायाजाल में जब तक मनुष्य बंधा रहेगा, तब तक जीवन में माया की ब्रह्म से दूरी बनी ही रहेगी। जीवन में ब्रह्म नहीं होगा, केवल स्वर्ण-मृग की भ्रांति लिये माया होगी।

महावीर और बुद्ध कहते हैं कि जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता। ब्राह्मण वही है जो अपने ब्रह्म को पहचान लेता है। इस ब्रह्म की पहचान भी मनुष्य को तब ही होती है जब उसके मन से, चित्त से माया का कोहरा छंट जाता है। जो मन रोग हो गया है उसे औषधि भी बनाया जा सकता है। चंचल मन अगर निर्वात कक्ष में जलते हुए दीपक की तरह अकंप हो जाए तो यही मन मनुष्य के लिए ऊर्जा का विराट पिंड और वरदान बन सकता है। पर हर मनुष्य के लिए मन का निष्कंप हो जाना सरल नहीं है। इसलिए मानवता को दूसरा विज्ञान चाहिए—हृदय विज्ञान। मन जब तक मन है वह नरक की ओर, मरघट की ओर ही ले जाएगा और जब यही मन हृदय के द्वारों से गुजरने लगता है नरक स्वर्ग और मरघट मंदिर बन जाता है। हमें मन को नई दिशा देनी होगी, सार्थक सोपान देना होगा। यह नया रास्ता, नई दिशा और नया सोपान अंतर-हृदय होगा। अंतर-हृदय ही मनुष्य की मूल भगवत्ता का केन्द्र है। यह जीवन के मूल प्राण की धुरी है।

हृदय तो जीवन के भीतर का खिला हुआ, छिपा हुआ गुलाब है। तुम हृदय से गुलाब को निहारो, तुम पाओगे कि हृदय खुद गुलाब है। ऐसा ही हंसता हुआ, खिलता हुआ, महकता हुआ। रस और सुवास की आभा बिखेरता हुआ।

हाँ, मुझे हृदय से प्यार है। हृदय वालों से अनुराग है। मेरा एक ही संदेश है हृदय से जिओ, हृदय वालों के बीच जिओ। सच, पत्थर भी पिघल जाएगा। टूट भी हरा-भरा हो जाएगा। कुम्हलाए फूल भी खिल उठेंगे। चट्टानों से भी झरने फूट पड़ेंगे। बस, हृदय से जिओ।

राजा जनक महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि 'हम किसके प्रकाश में जिएँ' तो

उत्तर मिलता है 'सूर्य के प्रकाश में ।'

अगर सूर्यास्त हो गया हो तो ।' 'चाँद के प्रकाश में ।'

'अगर चाँद भी न हो, अमावस की रात हो तो किसके प्रकाश में जिएँ ।'

'अपने आँगन में एक दीप जला लो ।'

'दीपक के प्रकाश की भी व्यवस्था न हो तो । हम अनजानी राह पर चल रहे हों और दीपक या कंदील की व्यवस्था न हो पाए तो क्या करें ।'

याज्ञवल्क्य ने कहा 'जब जीवन में कोई भी ज्योति दिखाई न दे, तब अपनी आत्मा की ज्योति के प्रकाश में अपने जीवन-पथ पर बढ़ो ।'

तब फिर प्रश्न उठा कि 'भगवान् वह आत्मा की ज्योति कहाँ रहती है ।'

'मनुष्य के अंतर हृदय में'—याज्ञवल्क्य ने रहस्य उद्घाटित किया ।

महर्षि रमण से पूछा गया कि आपको ईश्वरीय ज्योति से साक्षात्कार हुआ, अन्तर-प्रकाश मिला, कहाँ मिला ? रमण ने कहा, 'अपने ही अन्तर हृदय में ।' बुद्ध से भी पूछा गया कि जिन क्षणों में आपको बोधि का प्रकाश उपलब्ध हुआ, उसकी लौ सबसे पहले कहाँ जगमगाई । बुद्ध ने भी 'अंतर हृदय' ही कहा । महावीर ने कहा कि कैवल्य का प्रकाश मेरे अंतर हृदय में उमड़ा । अन्तर-हृदय मनुष्य की महागुफा है । ऐसी गुफा जो जीवन के अनूठे रहस्यों से भरी है । यह मनुष्य की अन्तस्-चेतना की महागुफा है । जीवन का परम सत्य इसी महागुफा में स्थित है । मनुष्य का अन्तर-हृदय ही चेतना की महागुफा है ।

हम मन को, बुद्धि को उलटें हृदय की ओर । अब तक मन से सोचा, अब हम मन को हृदय की गंगा में स्नान कराकर सोचें । हम हृदय से सोचें । मन ज्यों ही हृदय में निमग्न होगा, उसकी चंचलता और उच्छृंखलता तिरोहित हो जाएगी । तनाव और घुटन से मुक्त होने का रास्ता है—हृदय में डुबकी । तुम हृदयवान हो जाओ, तो जगत तुम्हारे लिए बहुत सुकोमल हो जाएगा । तुम स्वतः मध्यस्थ और तटस्थता के भाव में स्थित हो जाओगे । मन का अहं स्वतः विगलित हो जाएगा । अनिद्रा सताती हो, तो भी यह चमत्कारी मंत्र है कि तुम हृदय में ध्यान धरते हुए सोओ । बहुत आराम से नींद आएगी । अनिद्रा क्या है मन की अस्वस्थता और निद्रा क्या है स्वस्थ मन द्वारा लिया

गया विश्राम । हृदय-स्थल पर, वक्ष-स्थल के मध्य परिसर में निमग्न होना मन को स्वस्थ करने का कीमिया सूत्र है ।

मनुष्य का मन विकृत है । वह उद्वेगों-संवेगों से भरा है । हृदय निर्मल है । वह सहजता-सरलता-सत्यता-शुचिता से आवेष्टित है ।

अपने मन पर सवार हुआ व्यक्ति दूसरों के प्रति इन्द्रियासक्त और विकृत होता है, और हृदय-रथ पर सवार व्यक्ति दूसरे के प्रति निर्मल और श्रद्धानिष्ठ होता है । मनुष्य का प्रेम जब विकृत होता है तब वह दूसरों को आहत और अपमानित करना चाहता है, लेकिन यही प्रेम जब श्रद्धा में रूपान्तरित हो जाता है तब हमारा मस्तक दूसरे के चरणों में जा झुकता है । श्रद्धा अंतर-हृदय से आती है । सम्यक् प्रेम अंतर-हृदय से निःसृत होगा । यहीं पर शांति है, यहीं पर सच्चा प्रेम, यही है करुणा का मंगल कलश, यहीं है आनंद का अनुष्ठान और यहीं बजता है भक्ति का करताल । मनुष्य धनवान हो गया, बुद्धिमान हो गया, बस नहीं हो पाया तो हृदयवान ।

कल मुझसे कोई पूछ रहा था कि मनुष्य की संवेदनशीलता क्यों मरती जा रही है । सच्चाई यह है कि मनुष्य का हृदय ही मर गया है, फिर संवेदनशीलता कैसे जीवित रह सकती है । क्या स्वार्थ में पड़े आदमी को देखकर लगता है कि उसमें कोई आत्मा नाम की चीज बची है ? अपने मन में घायल को देखकर भी यही विचार आएँगे कि कौन लफड़े में पड़े । अगर इस घायल को अस्पताल पहुँचा दिया तो पुलिस पेशान करेगी । कानून के चक्कर में फँस जाऊँगा । इससे तो अच्छा है चुपचाप निकल जाओ । लेकिन हृदयवान तो अपने शरीर का रक्त-मांस देकर भी शरणागत कबूतर की रक्षा करनी पड़े तो करेगा । जिसका हृदय जग गया, उसकी संवेदना भी जाग्रत रहती है और केवल मन में जियोगे तो विचार तो बहुत करोगे, पर कर कुछ न पाओगे । जिसके पास हृदय नहीं वह इन्सान को टक्कर लगा के आगे बढ़ जाएगा और हृदयवान एक चींटी को बचाने में भी अहिंसा का रक्षण समझेगा । उसे चींटी को बचाकर भी अपने आपको ही बचाना लगेगा । जीव पर की गई करुणा आत्म-करुणा ही लगेगी । किसी और का वध उसे अपना ही वध लगेगा । हृदय चाहिए, हृदय वालों की बात ही कुछ और होती है । हृदय ही वह धरातल है जिसे मंदिर कह सकते हो, जहाँ कोई अपवित्रता नहीं होती । विचारों में अपवित्रता हो सकती है, लेकिन हृदय में कतई अपवित्रता नहीं होती ।

हृदय भाव-केन्द्र हैं और मन-मस्तिष्क विचार-केन्द्र । किसी भी भक्त की केवल इतनी-सी इच्छा रहती है कि वह अगर कहीं बैठा हो और परमात्मा का उधर से

निकलना हो जाए तो एक झलक उसे भी मिल जाए। वह कोई महास्वरूप नहीं चाहता। केवल एक झलक कि उसका जीवन आनन्द से भर जाए।

इच्छा केवल रजकण में मिल, तब चरणों के निकट पडूँ।

आते-जाते कभी तुम्हारे, श्री चरणों से लिपट पडूँ।

ताकि लोहा-लोहा न रहे तुम्हारे श्री चरणों के पारस से सोना हो जाए। कब होगा यह, हरि-इच्छा। हम तो जन्मों तक तुम्हारी प्रतीक्षा करते रहेंगे और यही प्रार्थना करेंगे कि आओ और यही वर दो कि मेरा हृदय स्फटिक की भाँति स्वच्छ और निर्मल हो जाए ताकि तेरा सभी कुछ मेरे हृदय से प्रतिबिम्बित हो सके। जो भी कुछ करूँ तेरे लिए करूँ। खाऊँ-पीऊँ सो सेवा, उठूँ-बैठूँ सो परिक्रमा। मेरा खाना पीना, तुम जो भीतर विराजित हो उसके लिए अर्घ्य है। इसलिए शुद्ध खान-पान लेता हूँ क्योंकि तुम्हें अशुद्ध वस्तुएँ कैसे समर्पित कर सकता हूँ। हाँ, अगर हम सभी के भीतर यह भाव हृदयंगम हो जाए कि जो भी कर रहे हो वह परमात्मा के लिए है तो कभी गलत काम नहीं कर सकोगे। हम अशुद्ध खान पान की ओर प्रवृत्त नहीं होंगे। दुर्व्यसनों का सेवन नहीं कर पाएँगे।

क्या हम किसी मंदिर में सिगरेट का नैवेद्य चढ़ाते हैं? क्या हम भगवान के आगे फूलों के नाम पर जर्दा-तम्बाकू समर्पित करते हैं? हम दूध और पंचामृत से अभिषेक करते हैं या शराब-बीयर से? भला, जब हम भगवान को फल-फूल-दूध समर्पित करते हैं, तो फिर स्वयं शराब-सिगरेट, तम्बाकू-गुटके का उपयोग क्यों करते हैं! आखिर, हमें यह समझ कब आएगी कि जीवन स्वयं एक मंदिर है।

अभी तुमने परमात्मा को मंदिर-मस्जिद-गिरजा से ही जोड़ा है। तुम्हारा शरीर स्वयं उसका मंदिर है, तुम्हारे हृदय में ही तुम्हारा हृदयेश्वर है, जिस दिन तुम्हारी यह दृष्टि बन जाएगी, तुम्हारा तुम्हारे जीवन के प्रति रवैया बदल जाएगी। तब तुम्हारा उठना-बैठना भी उसी की परिक्रमा होगा और खाना-पीना भी देवता को अर्घ्य चढ़ाना।

अभी तुमने परमात्मा का अनुभव नहीं किया है। तुम केवल शरीर का अनुभव करते हो। थोड़ा-सा गहराई में उतरो, शरीर से ऊपर उठो और भावों में परमात्मा का अवगाहन करो। तुम्हारी आदतें जो तुम छोड़ना चाहते हो उन्हें प्रभु को समर्पित कर दो और संकल्प लो कि जब भी व्यसन हावी हों या गलत रास्ते जाओ तुम कहोगे यह भी परमात्मा के लिए है। परमात्मा का स्मरण आते ही तुम्हारी चेतना गलत कार्यों की ओर प्रवृत्त नहीं हो जाएगी।

अभी तो तुम्हें लगता है कि भगवान है कहाँ । कभी संतों से सुन लिया था या पुस्तकों में पढ़ लिया था सो कहीं होगा किसी किनारे । भगवान है, ऐसा आत्म-विश्वास नहीं है । इसीलिए लतों से घिरे रहते हो । तुम मंदिर में जाकर धन तो चढ़ा सकते हो, पर क्या सिगरेट और शराब चढ़ा सकते हो ? नहीं, क्योंकि वहाँ तुम्हें मूर्ति के रूप में ही सही परमात्मा दिखाई देता है । इसलिए तुम यह अनुचित कार्य नहीं कर पाते । फिर यह काया क्या परमात्मा का घर नहीं है ? यह शरीर, यह हृदय भगवान का निवास स्थान नहीं है ? फिर क्यों स्वयं को अपवित्र करते हो । क्यों अशुद्ध करते हो, क्यों भीतर कचरा डालते हो । एक भाव हृदय में प्रतिष्ठित हो जाए, भीतर मेरा भगवान रहता है । उसके बाद जो स्वीकार किया जाएगा, वह तुम्हारी पुष्पांजलि ही होगी ।

मुझे याद है, यह मेरी पसंदीदा कहानियों में से एक है, ऐसी मोहक कहानियाँ धरती पर कभी-कभी ही घटित होती हैं । इतनी जीवंत कहानी सबके जीवन में घटित हो । कहा जाता है कि सूरदास अपने प्रभु की भक्ति में मगन इकतारे से सुर मिला रहे थे कि 'प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो ।'

प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो ।

मैला नाला जनम-जनम का, मैं तो कीच भरा,

तुम निर्मल गंगा जल मुझको, छूकर पाप हरो ।

भवसागर में फंसी नाव का, मैं भटका पंछी,

इस पंछी को चरण-शरण दो, अब ना देर करो ॥

सूर कुछ गुनगुना रहे थे अपनी ही मस्ती में डूबे हुए कि उधर से उनके आराध्य कृष्ण और राधा का निकलना हुआ । राधा ने कृष्ण से कहा, प्रभु देखो, वह भक्त पुकार रहा है । चलो, आज उसी की देखभाल कर ली जाए । राधा-कृष्ण सूर के पास पहुँच जाते हैं । राधा कहती हैं जिस परमतत्त्व की तुम उपासना कर रहे हो, जिसे तुम पुकार रहे हो, वह तुम्हारे सामने साक्षात् है । तुम अपनी आँखें खोलो और उस परम का दर्शन कर लो । सूरदास चौंके । उनकी आँखों से अश्रु की बूँदें छलक आईं । राधा ने फिर कहा, जिसे तुम पुकार रहे थे वह तुम्हारे सामने हैं और तुम रो रहे हो, अपनी आँखें खोलो वत्स ! सूर ने कहा, माँ आज तुमने जीवन में पहली बार मुझे अपने अंधत्व का अहसास करवाया । मैंने इतना जीवन व्यतीत कर लिया पर कभी अंधत्व खला नहीं । आज पहली बार मैं विवश हूँ कि भगवान मेरे सामने खड़े हैं और मेरे पास उनका दीदार देखने के लिए आँखें नहीं हैं । अब राधा भी चौंकीं । पूछा, क्या कहते हो सूर, तुम्हारे पास आँखें

नहीं हैं। राधा ने कृष्ण की ओर देखा, कृष्ण मुस्कराए। राधा ने कहा, मेरा आना कभी व्यर्थ नहीं जाता, माँगो वत्स ! तुम मुझसे जो भी माँगोगे जरूर मिलेगा।

सूर ने कहा, माँ तुम देना ही चाहती हो, तो आज इस अंधे को आँखें दे दो। ताकि मैं तुम्हें जी भरकर निहार सकूँ। राधा ने 'तथास्तु' कहा और सूर को आँखें मिल गई। सूर ने अपने राधा-कृष्ण को अपूर्व आनन्द भाव के साथ भरपूर निहारा, उसकी आँखें हर्ष से भर आईं। उन अश्रुकणों से उसने राधा-कृष्ण के चरणों का प्रक्षालन किया। अपने बालों से उनको पोछा। कृष्ण ने कहा, भक्त मैं तुम्हारी भक्ति से बहुत अभिभूत हूँ वत्स ! तुम कुछ माँगो, मैं तुम्हारी हर कामना पूर्ण करूँगा। सूर ने कहा, भगवन् ! आप मुझे वरदान देना चाहते हैं तो बस इतना कीजिए कि मां राधा ने जो आँखों की रोशनी दी है, वह वापस ले लीजिए। कृष्ण ने आश्चर्य से पूछा, यह तुम क्या कर रहे हो। सूर ने कहा, भगवन् ! मैं नहीं चाहता कि जिन आँखों से परमात्मा के रूप का रसास्वादन किया है, वे आँखें किसी और को देखें, इसलिए प्रभु ! ये आँखें पुनः तुम्हें समर्पित हैं। कृष्ण ने 'तथास्तु' के साथ कहा, सूर तुमने अपनी आँखें लौटाकर सदा-सदा के लिए अपनी आँखों में रहने के लिए मुझे विवश कर दिया है। अब कृष्ण का निवास बैकुंठ नहीं, सूर का अंतर्हृदय हो गया और तब एक भक्त ने भगवान को जीता और भगवान भक्त के हृदय के नेत्रों में बस गए।

अंतरहृदय की जागृति चाहिए, उसी का प्रेम चाहिए, उसी की करुणा चाहिए। मनुष्य अपने मन को जीत लेगा अगर हृदय का हो जाए। मैं साधना को जीवन का आधार समझता हूँ, लेकिन उसकी पगडंडिया हृदय के रास्ते से गुजरती हैं। हृदय में ही मन की शांति का बीज है। बिना हृदय का इन्सान तो 'इ' कार रहित शिव (शव) है। शव ही शिव भी है। शव में ईश्वरत्व जुड़ जाए तो शिव और शिव में से ईश्वरत्व निकल जाए तो शव रह जाता है। यह शिव मनुष्य के अंतर-हृदय में स्थित है। इसलिए ध्यान भी हृदय में धरो, जीवन भी हृदय से जियो। ऐसे जियो कि जीवन आनन्द का वरदान हो जाए कि जीवन परमात्मा का पुरस्कार हो जाए, कि जीवन प्रकृति का उपहार या सौगात हो जाए। जीवन में हृदय का प्रेम और शांति चाहिए, हृदय की करुणा और हृदय का आनंद चाहिए।

इस हृदय के भीतर ही सारे तीर्थ और धाम स्थित हैं। जब कोई अन्तर हृदय की यात्रा कर लेता है, तब बाहर तीर्थ बचते ही कहाँ हैं। मनुष्य का यात्री मन परमात्मा को भी बाहर ढूँढता है और ध्यानी मन परमात्मा को अपने भीतर जानता है। जब ध्यानी

मन परमात्मा को भीतर पा लेता है तब उसे बाहर के कण-कण में परमात्मा की अनुभूति होने लगती है। लेकिन तुमने अपने भीतर के परमात्मा को नहीं पहचाना तो बहुत मुश्किल है कि बाहर के परमात्मा को पहचान पाओ। तब होगा यह कि किसी भी धर्मस्थान पर जाकर वापस लौट आओगे कि हो गई यात्रा, पर परमात्मा नहीं मिल पाएगा। जब तुम्हें स्वयं में भगवान दिखाई नहीं देता तब कहीं और दिख जाए इसमें आशंका है।

आएं हम अपने अन्तर् हृदय में; डूबें, जिसमें वह व्याप्त है, सम्पूर्ण अस्तित्व का बीज जिसमें समाया हुआ है। भगवान करे हम सब हृदयवान बनें, हृदय के होकर हृदय से जियें, जीवन अमृत होगा।

हम एक माह के लिए ही सही, एक प्रयोग करें। हम दस मिनट के लिए मन और बुद्धि की धारा को हृदय में उतारते हुए हृदय में स्थित हों। हृदय में ध्यान धरें। हृदय में सघन हुई ऊर्जा को अगले चरण में ऊर्ध्व मस्तिष्क की ओर उठने दें और ऊर्ध्व मस्तिष्क में व्याप्त हो जाएँ। इससे हमारी ज्ञान चेतना भी मुखर और प्रखर होगी। हम उन्नत मस्तिष्क के स्वामी बनेंगे। लगभग दस मिनट की यह व्याप्ति रहे। अगले दस मिनट के लिए मुक्त आकाश की ओर उठें और अपनी एवं अस्तित्व की चेतना को एकाकार होने दें। फिर पाँच मिनट विश्राम की स्थिति में रहें। अस्तित्व की ऊर्जा को अपने पर बरसने दें। आप पाएँगे, आप सचमुच नये हो चुके हैं, प्रमुदित और ऊर्जस्वित हो चुके हैं। आपमें आपकी तेजोमयता का जागरण और विस्तार हुआ है, यह हृदय से अस्तित्व तक की यात्रा है और अस्तित्व से हृदय तक की।

हृदय ही मार्ग है, हृदय ही मंजिल है। जहाँ से शुरुआत है, अन्त में वहीं विश्राम है। हम जीवन जिँ अन्तर्हृदय से। हृदयवान ही प्रेम, शांति, करुणा को जी सकता है। वही मंगल मैत्री और निर्मल दृष्टि का स्वामी होता है। वही होता है सत्य-शिव-सौन्दर्य का स्वामी। नये युग के लिए बस एक ही सार-संदेश : जिओ हृदय से, प्रेम से, आनंद से।

मंगलमय जीवन हो।
सत्यम् शिवम् सुन्दरम् सबके
जीवन का दर्शन हो ॥

कोई नहीं पराया, सारी
धरती को अपनाएँ।

नहीं सताएँ कभी किसी को,
सबको गले लगाएँ ।
शांति, शांति हो, विश्व-शांति हो,
प्रगति का सर्जन हो ॥

मधुर रहे व्यवहार हमारा,
जो औरों से चाहें ।
विपदा में भी कभी न छूटे,
हमसे सच्ची राहें ।
सत्य धर्म हो, सत्य विजय हो,
सत्य हमारा प्रण हो ॥

जिसका जो अधिकार हो उसको,
हम क्यों भला चुरायें ।
हम मानव हैं, मानवता का,
मन में दीप जलाएँ ।
कर्मयोग से जो कुछ पाएँ,
वही हमारा धन हो ॥

छल-प्रपंच से दूर रहें हम,
संग्रह पर अंकुश हो ।
लोभ-मोह का रोग निवारें,
चित्त हमारा वश हो ।
ऐसा हो सौभाग्य कि हमसे,
औरों का पालन हो ॥

जीवन में अनुशासन हो,
तन निर्मल, मन निर्मल हो ।
'चन्द्र' हमारी जीवन-दृष्टि
रोशन हो, मंगल हो ।
मंगल हो, मंगल हो सबका,
हर घर सुख-साधन हो ॥



मुक्ति हो, मृत्यु नहीं

मेरे प्रिय आत्मन्,

जीवन एक तीर्थयात्रा है। इसकी पूर्णाहुति किसी के लिए मृत्यु के कगार पर होती है और किसी के लिए मुक्ति के धरातल पर। जिनके अन्तर्चक्षु नहीं खुले हैं, उनके लिए मृत्यु जीवन का समापन है, लेकिन जिन्होंने अन्तर्दृष्टि पा ली है, उनके लिए जीवन सतत चलने वाली धारा है। व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर भी उस तत्त्व की कभी मृत्यु नहीं होती, जो जीवन्त है। जो चिता पर जलता है वह तो आज भी मृत है और सौ बार चिता पर चढ़कर भी जिसकी मृत्यु नहीं होती, वही जीवन है। शरीर की मृत्यु होती है, जीवन-तत्त्व की नहीं। बाह्य रूप से हम किसी को मृत जरूर कह सकते हैं, लेकिन जीवन-तत्त्व की मृत्यु नहीं हो सकती। सारे परिवर्तन पर्यायों में होते हैं, मूल सत्ता तो हर हाल में अखंड-अमर रहती है।

ऐसा ही हुआ, एक बार मेरा किसी के यहाँ जाना हुआ। वहाँ किसी का शव रखा हुआ था। सभी परिजन शव के आसपास रुदन कर रहे थे। विलाप करते हुए 'अमुक मर गया' 'हमें छोड़कर चला गया' कहते जा रहे थे। मुझसे भी यही कहा गया कि यह आपका अत्यन्त प्रिय था, मर गया। मैंने सिर्फ इतना ही कहा 'जिनके पास आँखें हैं, उनके लिए जीवन की कभी मृत्यु नहीं होती। जिसे तुम मर गया कहते हो, वह पहले ही मरा हुआ रहा। मृत्यु ने केवल दोनों के बीच का संयोग तोड़ दिया।'

मृत्यु संयोगों को तोड़ सकती है, किसी को मार नहीं सकती। हम सभी उस जीवन के संवाहक हैं, उस जीवन के स्वामी हैं, जो बार-बार मृत्यु से गुजरकर भी नहीं मरता है। जिसे अग्नि भी नहीं जला पाती यह जीवन ऐसा अखंड है। कृष्ण गीता में कहते हैं, 'अर्जुन, जिन लोगों के विरुद्ध तुम शस्त्र उठा रहे हो, तुम्हें लगता है कि तुम इनकी मृत्यु का निमित्त बनोगे, पर वास्तविकता यह है कि यह तो पहले ही मर चुके हैं।' किसी की आत्मा को तो छेदा-भेदा ही नहीं जा सकता। आत्मा तो अछेद-अभेद्य है। गिरता सदा शरीर ही है। शरीर एक-न-एक दिन गिर ही जाना चाहिए। शरीर की अमरता किस काम की। जब तक शरीर सत्प्रवृत्तियों में स्थित रहे, तब तक वह सत्य है। दुष्प्रवृत्तियों की ओर गतिशील हो चुके शरीर को तो पुनः पंच तत्त्व में खो ही देना चाहिए। अर्जुन, ये जो सामने दुष्प्रवृत्तियों के दुर्योधन खड़े हैं, ये अब आत्मवान रहे ही नहीं, ये मृत हो चुके हैं। इनका अमृत विष हो चुका है। इन्होंने अमृत को विष कर डाला है। ये तो अब मनुष्य नहीं, महज माटी के पुतले भर हो चुके हैं। ध्यान रखो, मृत्यु केवल माटी के साथ ही घटित होती है, आत्मा के साथ नहीं।

शरीर की मृत्यु भी आकस्मिक नहीं होती। जिसे हम जीवन मानते हैं, उसकी मृत्यु क्षण-क्षण घटित होती रहती है। आती हुई साँस जीवन है और जाती हुई साँस मृत्यु। मृत्यु का अर्थ है एक ऐसी अंतिम श्वास जिसके चले जाने पर दूसरी साँस भीतर न आ सके। श्वास का लेना जीवन और निकल जाना ही मृत्यु है। हम सभी की श्वासें निश्चित हैं। हम एक श्वास भी अधिक नहीं ले सकते। जो जितनी तीव्रता से श्वास-प्रश्वास कर रहा है, उसकी गिनती कम होती जा रही है। जो जितने आराम, अन्तराल से श्वास-प्रश्वास कर रहा है, उसकी आयु की रेखा दीर्घ हो जाती है। प्राणायाम से श्वास को एक सोपान दिया जाता है, एक विशिष्ट गति और स्थिति दी जाती है। श्वास के लयबद्ध और संतुलित किए जाने का नाम ही प्राणायाम है।

हम सुनते हैं प्राचीन काल में ऋषि-मुनियों की दीर्घायु हुआ करती थी। सिर्फ कारण इतना-सा है कि वे संतुलित श्वास-प्रश्वास करते थे। प्राणायाम के द्वारा श्वास पर इतना अधिकार कर लेते थे कि दीर्घ जीवन के स्वामी हो जाते थे। आज भी यदा-कदा सुनने में आ जाता है कि फलौं साधु या व्यक्ति भूमि के अंदर गड्ढे में निश्चित समय तक बंद रहने के पश्चात जीवित निकल आया। यह कैसे होता है? ऐसे कि बंद व्यक्ति जानता है कि भीतर जितनी प्राणवायु है उसका धीरे-धीरे लम्बे समय तक प्राणायाम के द्वारा ठीक उपयोग करना।

प्राणायाम का अर्थ ही है प्राणों को निश्चित आयाम, निश्चित सोपान, निश्चित गति देना। जो अपान वायु मृत्यु का निमित्त बनती है उसकी भी काट करना। इसलिए मृत्यु बहुत ही साधारण-सी बात है। मृत्यु यानी हम पुनः साँस न ले पाए। प्रति मिनिट हम दस बार जीवन-मृत्यु का खेल खेलते हैं। जीवन में मृत्यु प्रतिक्षण समीप आती है, लेकिन मनुष्य को महसूस होता है कि वह जीवन में हर पल आगे बढ़ रहा है। नतीजतन मनुष्य को अपने जीवन में कभी भी मृत्यु का बोध नहीं हो पाता। जिसे मृत्यु का बोध नहीं हो पाता, उसे जीवन का बोध कैसे हो।

जिसे जीवन का बोध न हुआ, उसे मुक्ति का पाठ भी घटित न हुआ। मृत्यु का बोध पाना अनासक्ति को जीवन में आचरित कर लेना है। मृत्यु का बोध जीवन में वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह होने का आधार है। हम जीवन में न जाने कितने लोगों को मरता हुआ देखते हैं, लेकिन कभी अपनी मृत्यु का ख्याल नहीं आता। हमें वह दूसरा ही लगता है। हम सोचते हैं 'वह मरा है, हम नहीं'। लेकिन हर मृत्यु अपनी ही मौत की सूचना है। अपनी मूढ़ता में वह इस तथ्य को देख ही नहीं पाता कि कल मेरी भी यही स्थिति होने वाली है। मूर्ख को तो क्षमा किया जा सकता है, क्योंकि वह अनभिज्ञ है, लेकिन मूर्च्छित को कैसे छोड़ा जाए, क्योंकि वह जानते हुए भी मूढ़ बना हुआ है। मूढ़ता एक प्रकार की मूर्च्छा ही है।

महाभारत का एक चर्चित प्रसंग है - एक बार माँ कुंती को जोर की प्यास लगी। उसने अपने पुत्रों से पानी की व्यवस्था करने को कहा। सबसे छोटा पुत्र जाता है, एक-एक कर कुंती-पुत्र जाते हैं और सभी जानते हैं कि उनके सामने यक्षप्रश्न खड़े होते हैं। कोई भी पुत्र यक्ष-प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता और सब पत्थर की शिला में बदलते जाते हैं। जब अंत में युधिष्ठिर पहुँचता है तब उससे भी यक्ष-प्रश्न पूछे जाते हैं। यक्ष पूछता है कि मनुष्य की मूर्खता और मूढ़ता क्या है, मनुष्य का सत्य और असत्य क्या है, मनुष्य का ज्ञान और अज्ञान क्या है। तब युधिष्ठिर ने जो समाधान दिये, उसका कुल सार यही है कि मनुष्य की सबसे बड़ी मूर्खता यही है कि उसे ठोकर लगती है, फिर भी वह संभलता नहीं है। पूछा गया, कैसे? जवाब मिला, जब मेरा एक भाई यहाँ पत्थर बना दूसरा भाई पत्थर बना। पहला भाई पत्थर बना तब समझ में आता है कि उसे जानकारी न थी। लेकिन एक को पत्थर बना देखकर दूसरा भाई न जगा, दूसरे को देखकर तीसरा न जगा, चौथा भी न जगा, यही मनुष्य की मूढ़ता और यही उसका अज्ञान है।

जो औरों को ठोकर खाती देख सम्हल जाए, वह प्रज्ञावान है। जो ठोकर खाकर

समूहले वह पंडित है । जो ठोकर-पर-ठोकर खाकर भी न समूहले, वह मूर्ख है । यह मनुष्य की मूर्च्छा ही है कि वह पढ़ा-लिखा इंसान होने के बावजूद मूर्खता को ही दोहराता रहता है । किसी और की ठोकर और मृत्यु उस पर बेअसर होती जा रही है । मनुष्य अब बड़ा पत्थर दिल हुआ है । सिर पर उग आने वाला एक सफेद बाल भी जिसके लिए वानप्रस्थ की प्रेरणा बन जाया करता था, आज सिर ही सफेद नहीं हुआ है, आज सारा शरीर ही बुढ़ाता चला जा रहा है, फिर भी आदमी मौत से बेपरवाह है । कभी बुद्ध अपने साधकों से कहा कहते थे कि साधना में स्थिरता लाने के लिए पहले माह-दो-माह श्मशान में रह आओ, ताकि देह की मरणधर्मिता को तुम बखूबी जान ही सको । कुछ लोगों को श्मशान में विरक्ति भी उठती है । पर मशानिया वैराग्य कितने देर का ! अब तो किसी की अंत्येष्टि में शामिल होना महज एक औपचारिकता भर रह गई है । अहसास होता ही किसे है । सब जगह 'खानापूर्ति' चल रही है ।

घर में दादाजी की मृत्यु हो जाती है । बेटे-पोते अग्नि-संस्कार कर आते हैं । दो-चार दिन शोक मना लेते हैं, दो-चार दिन व्यवसाय भी बंद रख लेते हैं, पर वापस जैसे थे, वैसे ही हो जाते हैं । कही कुछ घटता नहीं है । कहीं कुछ छूटता नहीं है । छूटता है तो बेचारी दादी जो कल तक मंदिर जाती थी उसका मंदिर जाना छूट जाता है । हाँ दादाजी की मृत्यु के बाद उनकी पूंजी के लिए हमने लड़ाई जरूर शुरू कर दी । दादा की संपत्ति का स्वामी कौन बने ! मनुष्य की मूढ़ता कितनी गहन है कि जो भाई आपस में लड़ रहे हैं और देख रहे हैं कि दादाजी ने भी यह संपत्ति ऐसे ही इकट्ठी की थी और वे चले गए । यह संपत्ति कोई काम न आई । नश्वर को छोड़ा, नश्वर काया को भी छोड़ा । अनश्वर-तत्त्व अनश्वर रास्ते पर चला गया और हमारा अनश्वर-तत्त्व नश्वर वस्तुओं के लिये झगड़ पड़ा । अनश्वर का नश्वर के लिए मूर्च्छित होना ही तो मनुष्य का अज्ञान है । दादाजी ने अपने बालकों के लिए कोई संस्कार नहीं दिया, कोई जीवन-बोध नहीं दिया, जाते हुए उन्होंने संपत्ति के नाम पर मात्र कलह और झगड़ा छोड़ा ।

एक पिता वह है जो बच्चों को जन्म देता है । जन्म देना तो कालचक्र का आगे बढ़ना है और संसार में पिता भी वही श्रेष्ठ माना जाता है जो अपने पीछे धन-संपत्ति छोड़ जाता है । लेकिन जिन्होंने जीवन-जगत और समाज के सभी व्यवहारों को ध्यान से पढ़ा है, वे जानते हैं कि यह धन-संपत्ति देने वाले पिता भुला दिये जाते हैं । असली पिता वही होता है जो अपने बच्चों को सही संस्कार देकर जाते हैं । संतति को जन्म देना सृष्टि-कृत्य है । संतति को संपत्ति देना पितृ-कर्तव्य है । संतति को संस्कार और संस्कृति का स्वामी बनाना उत्तम पुरुष का लक्षण है । वे पिता ही स्मरणीय हैं जो अपने बच्चों से

कह सकें कि देखो बेटा मैंने इस ढंग से जीवन जिया और यह पाया या अमुक-अमुक नतीजा निकाला और इन परिणामों की सौगात तुम्हें सौंपना चाहता हूँ। मेरे अनुभव तुम्हारे लिए विरासत हैं। अब यह तुम्हारे ऊपर है कि तुम इन्हें चाहो तो स्वीकार करो या अस्वीकार। लेकिन माया और मूढ़ता इतनी गहरी है कि कोई किसी को कहता नहीं, कोई किसी को समझाता नहीं। हाँ, अगर कोई समझाए तो हम समझना भी नहीं चाहते क्योंकि जितनी मूढ़ता दादा में थी, पोता भी वैसा ही मूढ़ है।

ऐसा ही हुआ। एक पिता ने पुत्र से कहा, 'बेटा मैंने विवाह किया और उसका कुछ सुखद परिणाम न निकला। तू ध्यान रखना, अपने जीवन में कभी विवाह न करना।

पुत्र ने कहा, पिताजी आप जो शिक्षा मुझे दे रहे हैं, वही मैं अपनी आने वाली पीढ़ी को भी दूँगा।

मूर्च्छा गहरी है और जब तक मूर्च्छा के लंगर न खुलें, तब तक जीवन की नौका मुक्ति की ओर कैसे बढ़ेगी। यह तो केवल मृत्यु की ओर बढ़ सकती है। मनुष्य केवल संग्रह करता रहता है, जीवन के बारे में कोई बोध नहीं जगता। जीवन के लिए किसी के पास व्यवस्था नहीं है। बस जिए चले जा रहे हैं। जैसे-तैसे। जीवन का बोध तब तक नहीं जगता, जब तक कि उसे मृत्यु का घंटनाद सुनाई नहीं देता।

एक प्रसिद्ध ज्ञेन संत हुए हैं— ईक्यू। संत ईक्यू सम्राट का पुत्र रहा था। जब वह बहुत छोटा था, उसकी माँ ने महलों का त्याग कर दिया था और स्वयं के सच्चे स्वरूप का बोध पाने के लिए उसने ज्ञेन-परम्परा में संन्यास ले लिया था। इसी कारण ईक्यू भी ज्ञेन-मन्दिर में अध्ययन के लिए आया करता। माँ साध्वी ने अपनी मृत्यु से पहले ईक्यू को पत्र लिखा था। वह पत्र ही ईक्यू के भविष्य का निर्माता बना।

माँ ने पत्र में लिखा, ईक्यू ! मैं इस जीवन में मेरे कार्य पूर्ण कर चुकी हूँ और मैं दिव्य लोक की ओर, एटर्निटी की ओर लौट रही हूँ। मैं चाहती हूँ तुम एक बहुत अच्छे ज्ञेन विद्यार्थी बनो और अपने बुद्ध-स्वभाव का अनुभव करो। ऐसा करके ही तुम जानोगे कि मैं तुम्हारे साथ हूँ या नहीं। तुम ताज्जुब करोगे कि बुद्ध ने उनचास वर्ष तक उपदेश दिया, और उस सारी अवधि में उन्होंने पाया कि एक भी शब्द बोलना आवश्यक नहीं है। तुम्हें जानना चाहिए कि आखिर क्यों ? माँ ने लिखा, अवाइड थिंकिंग फ्रूटलेसली। तुम अर्थहीन सोचना बन्द कर दो। तुम प्रकाश को उपलब्ध होओगे। भगवान के उपदेश स्वयं के ज्योतिर्मय होने के लिए ही है। इस ज्योतिर्मयता को अर्जित करना तुम पर निर्भर

करता है। बौद्ध धर्म की अस्सी हजार पुस्तकें हैं। तुम्हें वे सब पढ़ भी लेनी चाहिए, लेकिन ध्यान रखना। यदि तुमने अपना स्वयं का स्वभाव और स्वरूप न पहचाना, तो तुम मेरे इस पत्र को समझ ही न पाये। ईक्यू यही मेरी अन्तिम इच्छा है और यही मेरी ओर से तुम्हारे नाम वसीयत।

ईक्यू माँ का खत पढ़कर ऐसा प्रेरित हुआ कि माँ का वह पत्र उसके संन्यास का, उसके ध्यान-मार्ग का, उसकी मुक्ति का आधार बना। उसकी माँ ने पत्र के अन्त में अपना हस्ताक्षर करके लिखा था—नॉट बॉर्न, नॉट डेड। माँ, जो न जन्मी, न मरी।

ईक्यू जैसे लोग जग ही जाते हैं। गौतम जैसे लोग बुद्ध बन ही जाते हैं। कहते हैं: बुद्ध के पास से एक प्रसूति से पीड़ित महिला निकली। सारथी ने बताया कि जन्म सभी का इसी तरीके से होता है। आगे देखा कि एक व्यक्ति ने जो खाया है, उसे ही उल्टी कर रहा है। बुद्ध को ताज्जुब हुआ। सारथी ने जवाब दिया कि जन्म और रोग दोनों जीवन से जुड़े हुए हैं। तभी लाठी का सहारा लेकर कोई वृद्ध जाता हुआ दिखाई दिया। बुद्ध पुनः पूछते हैं— इसे क्या हुआ? यह लकड़ी के सहारे से क्यों चल रहा है। सारथी ने एक बार फिर कहा, जीवन में बुढ़ापा भी आता है। कहीं दूर किसी शवयात्रा को देखकर बुद्ध के मन में फिर प्रश्न जगता है। सारथी ने बताया कि इसकी मृत्यु हो गई।

सारथी सब जान रहा है, सभी स्थितियों को जानता है। एक ही रथ पर बुद्ध भी है और सारथी भी। दोनों के सामने चार घटनाएँ घटती हैं, लेकिन एक इन सबसे अप्रभावित रहता है और दूसरा संबुद्ध हो जाता है। मूढ़ व्यक्ति, ज्ञान रखते हुए भी अपने माया के जाल में जैसा था, वैसा ही रह जाता है और दूसरा बुद्धत्व को उपलब्ध कर लेता है। कोई दूसरे को जलता देखकर स्वयं को भी भस्मीभूत पाता है और संसार से विरक्त हो जाता है। लेकिन हम तो अपने हाथों से अपने परिजनों का अग्नि-संस्कार कर आते हैं, फिर भी मन में कोई हलचल नहीं होती। मूढ़ता बहुत भीतर तक समाई है। इसीलिए मनुष्य की मुक्ति नहीं, मृत्यु ही होती है। कहेंगे जरूर कि मुक्ति चाहिए, लेकिन कोई मुक्तिदाता मिल जाए तो उससे संसार मांगना शुरू कर देंगे। मुक्ति महज बातों में रह जाती है, भीतर तो संसार बसा है। बात तो तब बने जब, जहाँ संसार बसा है उससे भी अधिक गहरे तक मुक्ति की भावना उतरे। ऊपर रखी राख तो यों ही चढ़ती-उड़ती रहेगी, भीतर में धधक रही आग बुझे, तो बात बने।

कहीं ऐसा तो नहीं कि मुक्तिदाता के पास भी चले गए, मगर मन की मंशाएँ

कुछ और हैं । बात करेंगे मुक्ति की, चाहत होगी संसार की ।

पानी थी मंजिल मुक्ति की,
पर माया से कब टूट सके !
आकाश सुहाया आँखों में,
पर पिंजरे से कब छूट सके ! !

जब तक माया की माथापच्ची से मुक्त न हों, तब तक बात बनेगी भी कैसे !

ऐसा ही हुआ । महावीर के पास एक ब्राह्मण पहुँचा और कहा 'भगवन्, आप इतना उपदेश देते हैं, मुक्ति के लिए इतना आह्वान करते हैं, इतने लोग मुक्ति की साधना भी करते हैं और ये मुक्त होकर जहाँ पहुँचेंगे, वहाँ बहुत भीड़ नहीं हो जाएगी ? जो कुछ संसार में हो रहा है वहाँ भी नहीं होने लगेगा ?' महावीर ने मुस्कराते हुए कहा, 'ब्राह्मण, मैं तुम्हें उत्तर दूँ इसके पहले तुम भी मेरा एक काम करो ।' ब्राह्मण प्रसन्न हुआ कि भगवान ने स्वयं उसे कार्य सौंपा है । उसने कहा, 'अति आनन्द से आपकी सेवा करूँगा ।' तो ऐसा करो आज तुम गाँव में जाओ और हर घर में जाकर बताओ कि मैंने संकल्प लिया है कि कल जिसकी जो मनोकामना होगी, उसे पूर्ण करूँगा । तुम जाओ और उसकी एक सूची बना लाओ कि किसको क्या चाहिए ।'

ब्राह्मण हर्ष से भरा हुआ गाँव गया और दिन भर घूम-घूमकर हर व्यक्ति से मिलकर एक सूची तैयार कर ली । संध्याकाल में वापस आकर भगवान से कहा, 'भंते, मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया है और यह रही, वह सूची लीजिए ।' 'मैं सूची का क्या करूँगा । बस तू मुझे यह जता दे कि किसे किस चीज की जरूरत है, किन वस्तुओं की आवश्यकता है ।' प्रभु ने कहा । पूरी सूची सुनाई गई । भगवान ने कहा, 'तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मिल गया ?' ब्राह्मण ने कहा, 'कैसे ?' 'मैंने तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने के लिए ही तो यह श्रम करवाया है ।' 'मैं समझा नहीं' — ब्राह्मण ने कहा । 'तुमने पूछा था अगर सभी लोग मुक्त हो गए तो ?' वत्स, ध्यान रखो, लोग मुक्ति की बात करते हैं, लेकिन कोई मुक्त होना नहीं चाहता । तुमने सूची पढ़ी है न, इसमें किसी को बेटा चाहिए, कोई अपना व्यवसाय चलाना चाहता है, किसी की पत्नी नाराज रहती है वह उसे खुश करना चाहता है, कोई धन-संपत्ति चाहता है, कोई समाज में प्रतिष्ठा चाहता है, बताओ कोई मुक्ति भी चाहता है ?'

यही हमारा चरित्र है । भगवान स्वयं हमारे सम्मुख आ जाएँ और कहें कि

आज तुम्हारी हर कामना पूर्ण होगी, मांगो, जो चाहते हो । तो हम भी यही सब पत्नी, पुत्र, पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, धनसंपत्ति ही माँगेंगे । मुक्ति कोई नहीं चाहता । मुक्त होने की अभीप्सा नहीं है । वह परम पिपासा ही नहीं है कि मुक्ति मिले । इसीलिए कहता हूँ कि मनुष्य की केवल मृत्यु होती है और जीवन जन्म-मरण का सातत्य बनकर रह जाता है । जन्म मिलता है और मृत्यु हो जाती है; रूपान्तरण की घटना ही नहीं घटती । पाने की आकांक्षा पूर्ण नहीं होती और पा-पाकर आज तक कोई प्राप्त नहीं कर पाया है ।

अर्थियाँ गुजरती रहीं, पर हम कोई अर्थ नहीं पा सके । जीवन के अंतिम निष्कर्ष और सार को जो न समझ सके, वह कैसे मुक्ति की डगर पर बढ़ेंगे ! उनका निर्वाण नहीं, मृत्यु ही होगी; और जो जग जाता है, अपने जीवन में मृत्यु का पाठ पढ़ लेता है, मृत्यु का बोध पा लेता है, उसके जीवन में मुक्ति का कमल, निर्वाण का प्रकाश अनायास प्रगट होता है ।

कहते हैं : भगवान बुद्ध अशोक वृक्ष की छाया में बैठे हुए थे । शिष्य भी आसपास ही थे । अचानक बुद्ध मुस्कुरा उठे । आनन्द ने पूछा, 'बात समझ में नहीं आई । आप यहाँ बैठे हैं, कोई घटना भी नहीं है, कहीं कोई आना-जाना भी नहीं है, और आप बैठे-बैठे अचानक मुस्कुरा दिए ।' बुद्ध फिर मुस्कुराते हुए बोले, 'तुम्हें लगता है कोई आया नहीं, कोई गया नहीं, लेकिन मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि इस बीच कितनी बड़ी घटना घट रही है । तुम देखो दूर जो नदी बह रही है वहाँ एक सार्थवाह, एक व्यापारी स्नान कर रहा है । बैलगाड़ी उसके पास है जो सामान से भरी हुई है । वह व्यापारी स्नान करते हुए मन में कल्पनाएँ संजो रहा है— यहाँ से बड़े शहर जा रहा हूँ, वहाँ इस माल को बेचने से चौगुना लाभ होगा । उससे मैं और माल खरीदूँगा, और लाभ होगा । इस तरह लाभ होता चला जाएगा । मैं धनवान हो जाऊँगा, फिर मैं सेनापति हो जाऊँगा, सेनापति से राजा बन जाऊँगा, अपने लिए राजमहल भी बना लूँगा, सात राजकुमारियों से विवाह करूँगा । मेरा संसार सुखमय हो जाएगा । वह नदी में स्नान कर रहा है, लेकिन मन कहीं और बह रहा है, मन में इन्द्रधनुष रचे जा रहे हैं । कल्पनाओं के जाल बुने जा रहे हैं ।' बुद्ध कहते हैं, 'वह स्वप्न तो वर्षों के देख रहा है और मेरे मुस्कुरा उठने का कारण है कि वह अगले कुछ दिन भी देख पाएगा इसमें संदेह है । आनन्द, तुम जाओ और उस व्यापारी को बोध दे आओ । शायद उस आत्मा का भला हो जाए ।

आनन्द जाते हैं और सारी वस्तुस्थिति से परिचित कराते हैं । वह युवक अपनी चेतना खो देता है और बेहोश हो जाता है । सारे इन्द्रधनुषी सपने कहाँ खो गए, पता भी

नहीं चलता। मृत्यु का बोध ऐसा ही है कि मन की सारी कल्पनाएँ, सारे सपने धरे रह जाते हैं। वह चिंता में पड़ जाता है कि अब क्या होगा।

बेहोशी की स्थिति में युवक को भगवान के पास लाया गया। पानी के छीटे देने पर उसे होश आता है। वह बुद्ध के चरणों में गिरकर रोने लगता है कि प्रभु मुझे बचाओ, अब मेरा क्या होगा। आपने कहा कि मेरी मृत्यु होने वाली है। आपका वचन कभी व्यर्थ नहीं जाता है, आपने अपने ज्ञान में देखा है, प्रभु मुझे बचाओ। 'बुद्ध ने कहा, 'वत्स, मृत्यु व्यक्ति की नहीं होती, मृत्यु केवल सपनों की होती है। मृत्यु मन के मायाजाल और कल्पनाओं की होती है। जिसकी मृत्यु होती है वह सत्य नहीं होता। घबराओ नहीं, सपने मरा करते हैं, सत्य कभी नहीं मरता। तुम्हारा जीवन अभी सात दिन और शेष है, अगर तुम चाहो तो तुम्हारा जीवन कोरी मृत्यु नहीं होगा, अपितु निर्वाण के महामार्ग की ओर बढ़ा हुआ महाजीवन हो जाएगा। तुम व्यर्थ की कल्पनाओं के इन्द्रधनुष हटा दो और बढ़ चलो निर्वाण के महापथ की ओर।' और कहा जाता है छः दिन बीत गए और मृत्यु आई उसे ले जाने के लिए। लेकिन मृत्यु पहुँचे उसके पूर्व ही मुक्ति का महामहोत्सव हो गया, निर्वाण उसके जीवन को प्रकाशित कर गया।

भगवान करे हमारे जीवन में मृत्यु आए, उससे पहले हमारी मुक्ति हो जाए, निर्वाण का महोत्सव उतर आए। निश्चय ही मृत्यु से कोई बच नहीं सकता, लेकिन चाहे तो खुद ही मृत्यु को मार सकता है। तुम मृत्यु को नहीं, मुक्ति को जियो। तुम्हारे एक ओर मृत्यु बढ़ रही है, दूसरी ओर मुक्ति। यह तुम्हें चयन करना है कि तुम किस ओर अपना कदम उठाना चाहते हो। मृत्यु भी तुम्हारा निर्णय है और मुक्ति भी। मृत्यु तो अपने आप हो जाएगी, पुरुषार्थ मुक्ति के लिए करना है, मृत्यु के भय से मुक्त होना है।

मुक्ति को जीने का पहला सूत्र है—मृत्यु-बोध। हमें मृत्यु का बोध रहे। मैंने कहा, मृत्यु-बोध; लेकिन इससे भी बढ़कर जरूरी है जीवन-बोध। हमें 'जीवन-तत्त्व' का प्रतिपल बोध रहे। मृत्यु-बोध असार को समझने के लिए और जीवन का बोध सार को उपलब्ध करने के लिए। ध्यान रहे, मृत्यु न मंगलकारी है और न अमंगलकारी है। यह न हमारे लिए अभिशाप है, न वरदान। यह तो जीवन के नाटक का पटाक्षेप है। मुक्ति पाने की नहीं, जीने की बात है। मुक्ति को पाने की आकांक्षा नहीं, इसे जीने की अभीप्सा हो। मुक्ति को जीने के लिए जीवन मस्ती से, आनन्द से भरपूर हो। मस्ती ऐसी कि खाने में कुछ भी मिल जाए, प्रेम से ग्रहण कर लें। मस्ती ऐसी कि कोई एक गाल को चाँटा दिखा दे तो दूसरा गाल भी चाँटा खाने को तैयार रहे। मस्ती ऐसी कि कोई पीठ

पर डंडा मार डंडा छोड़ भाग खड़ा हो तो उसे पुकार कर कहें कि भैया जाता कहाँ है अपना डंडा तो लेता जा । बीते वर्ष में पचास लाख का लाभ हो गया, तो उसे भी मस्ती से जी लिया और इस वर्ष पच्चीस लाख का घाटा लग गया तो उसमें भी उसी मस्ती को बरकरार रखने का नाम मुक्ति को जीना है । दोनो स्थितियों में रहनेवाली समरसता का नाम ही मस्ती और मुक्ति है । दोनों हालातों में मस्ती, दोनों स्थितियों में सहजता, सरलता और समरसता हो ।

जीवन में अच्छी और बुरी स्थितियाँ सदा शाश्वत नहीं रहती हैं । जीवन तो कालचक्र का क्रम है । कभी नीचे का हिस्सा ऊपर, और कभी ऊपर का हिस्सा नीचे आ जाता है । फिर हम, दोनों स्थितियों में एक समान क्यों न जिएँ । नहीं तो एक तिनका भी मनुष्य की अकड़ को गिराने के लिये पर्याप्त है । अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर अहंकार-ग्रस्त होना मनुष्य का पतन है । प्रतिकूल परिस्थितियाँ आने पर चित्त में समानता और संतुलन की भावना विद्यमान रहे तो वह प्रतिकूलता भी वरदान है । जो प्रतिकूलताओं का हँसते-हँसते स्वागत कर लेता है, उसी का नाम साधना है । जीवन में जहाँ चित्त प्रतिक्रिया-शून्य हो जाए, वहीं जीवन में मुक्ति को जिया जा सकता है ।

भला, किसी के क्रिया-प्रतिक्रिया करने से हम क्यों प्रभावित हों ! गीत और गाली दोनों के साक्षी रहें । आइने पर किसी के आने-जाने से कोई फर्क नहीं पड़ता । तुम सामने होते हो, आइना तुम्हें प्रतिबिम्बित कर देता है; तुम हट जाते हो आइना खाली हो जाता है । तुम ही उससे प्रभावित होते हो । उसमें देख-देखकर अपने को सजाते-सँवारते हो । आइने को तुमसे कुछ लेना-देना नहीं है । और न किसी के पास समय है कि वह तुम्हें देखे । तुम खुद ही अपना अवलोकन करते रहते हो । दुनिया को तुमसे कोई मतलब नहीं है । वह तो जैसी है चलती रहती है । तुम ही उछलकूद करते रहते हो । सारी उठापटक तुम्हारी अपनी है । जैसा हम बोलेंगे, वही प्रतिध्वनित होगा । जैसी हमारी क्रिया होगी, वैसी ही प्रतिक्रिया होगी । सब लौटकर आता है आज नहीं तो कल । चौगुना होकर वापस आता है । जैसे तुम जंगल में आवाज करते हो तो चारों ओर से प्रतिध्वनि आती है । ऐसा ही अपने जीवन के साथ, हर व्यवहार-बरताव के साथ समझो ।

कहा जाता है महावीर के कानों में कीलें ठोकी गई थीं, लेकिन महावीर ने बुरा नहीं माना । क्योंकि उन्हें बोध हो चुका था कि ये कीलें उस जन्म का परिणाम है जिसमें उन्होंने अपने ही चाकर के कानों में गर्म सीसा डलवाया था । ये उस जन्म की इस जन्म में प्रतिक्रिया है । जैसी क्रिया होगी, प्रतिक्रिया को वैसा ही होना होगा । क्रिया किस तरह

की प्रतिक्रिया लेकर लौटेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन लौटेगी अवश्य, इतना ध्यान रखना। इसलिए दोनों स्थितियों में चित्त में शांति बनी रहे, मस्ती बनी रहे यही जीवन में मुक्ति को जीना है। शरीर तो यही रहेगा, शरीर के अहसास भी रहेंगे, पर हम जो साक्षी और तटस्थ बनकर जीते हैं, जानते हैं भूख किसे लगी। शरीर को भोजन दे रहे हैं न कि मैं भोजन कर रहा हूँ। शरीर को सर्दी-गर्मी का अहसास हो रहा है, इसलिए उसकी व्यवस्था की जा रही है। इसका 'मैं' से संबंध नहीं है। 'मैं' तो निर्वस्त्र हूँ, मेरा कैसा कपड़ा। जहाँ साक्षी इतना प्रखर हो जाए वहाँ अगर वह क्रोध और भोग भी करेगा तो साक्षी होगा कि मन उद्विग्न हुआ, वही जवाब भी दे रहा है; मैं तो उस मन का भी दृष्टा हूँ। शरीर के प्रति, विचारों के प्रति तटस्थता व्यक्ति को मुक्ति की ओर बढ़ाती है। उसकी मृत्यु नहीं, मुक्ति होती है। आत्म-साक्षी क्रोध-कषायों का भी साक्षी भर रहता है।

पीछे बचेगा क्या ? माटी की काया का पुतला भर। फिर देह के प्रति आसक्ति कैसी ! रंग और रूप के प्रति मूर्च्छा कैसी ! चमड़ी के भीतर खून सबका लाल है और देह की अन्त्येष्टि हो जाने पर राख सबकी काली है। गोरी देह की राख भी काली और काली देह की राख भी काली ही। मृत्यु सबके रंगों को समान कर देती है, पंच तत्त्वों को फिर से बिखेर डालती है। साधक जागे, देह के पार झाँके, विदेह का रूप निहारे।

होश जगे, सजगता आए स्वयं को शरीर से अलग देखने की, शरीर के भाव से, चित्त की तरंग से अलग देखने की। यह बोध जागे कि नियामक और नियमन करने वाला मैं नहीं हूँ। 'स्व' का तादात्म्य शरीर से टूटे। तब एक सार्थक मनुष्य और मुक्त आत्मा का जन्म होगा। कभी लेते हो तो अपने शरीर को देखो, बाह्य शरीर के साथ अंदर के सूक्ष्म शरीर को देखो, द्रव्य शरीर के साथ अपने भाव-शरीर को देखो, अपने से अलग। तब पाओगे कैसे निर्मलता आती है, अनासक्ति और निर्लिप्तता घटित होती है, अन्तर-स्वास्थ्य की अनुभूति होती है।

सुनने वालों सुनो ध्यान से, सारे आज गरीब-अमीर।

सबकी ही तस्वीर रहेगी, नहीं रहेगा सदा शरीर ॥

मल्लिकुमारी के बारे में कहा जाता है कि मल्लिकुमारी विवाह योग्य हो चुकी थी। उसके रूप-सौन्दर्य-गुणों की सर्वत्र चर्चा होती थी। इस अद्वितीय सुन्दरी से विवाह करने के लिए कई राजकुमार इच्छुक थे। सम्राट पिता के पास विभिन्न नरेश-कुमारों के संदेश आ चुके थे। यहाँ तक कि छः राजकुमार तो नगर-कोट पर एकत्र हो गए कि वे

मल्लिकुमारी से विवाह करेंगे। सम्राट दुविधा में पड़ गये कि एक पुत्री और छः प्रस्तावक। आखिर विवाह तो किसी एक से ही होगा। भयंकर संग्राम होने की संभावना हो गई। एक लड़की के लिए आसन्न युद्ध की संभावना से पिता घबरा उठे कि अब क्या करें। इंसान के तो हिस्से-बाँट भी नहीं किये जा सकते। पिता को संतुष्ट देख मल्लिकुमारी ने कहा, पिताजी आप परेशान न होइए। मैंने जीवन के रहस्यों को जाना है, इसलिए मैं जीवन के प्रति पारदर्शिता और दूरदर्शिता रखती हूँ। आप तो यह सब मुझ पर छोड़ दीजिए। मैं इस समस्या का निराकरण खुद ही कर लूँगी। आप तो केवल छः कुमारों को संदेश भिजवा दीजिए कि सात दिन बाद वे सभी इस राजमहल में पहुँच जाएँ। पिता और अधिक आशंकाग्रस्त हुए कि यह लड़की क्या करने वाली है। विवाह तो एक से होगा और सभी एक साथ आ गए तो मारकाट मच जाएगी। अपनी आशंका पुत्री को बताई कि वे आपस में ही लड़ मरेंगे।

पुत्री ने आश्वासन दिया कि वे उसकी बुद्धि और समझ पर भरोसा रखें। सात दिन पश्चात् सभी राजकुमार राजमहल में एकत्रित हुए। सामने मल्लिकुमारी खड़ी थी। छः राजकुमार इतने अद्भुत रूप-लावण्य को देखकर विमुग्ध हो गए और सोचने लगे राजकुमारी मुझसे विवाह कर ले। प्रत्येक के मन में ज्वार उठ रहा था। लेकिन अजीब बात यह थी कि मल्लिकुमारी अपने स्थान से हिलती भी न थी, पलक भी न झपकाती थी। तभी राजकुमारी मल्लिकुमारी ने अपनी सखियों के साथ उसी कक्ष में प्रवेश किया। सभी कुमार चौंक गए कि मल्लिकुमारी कौन है, यह जो सामने खड़ी है वह, या जो अभी-अभी कक्ष में प्रविष्ट हुई है वह।

मल्लिकुमारी धीरे-धीरे आगे बढ़ी और अपनी प्रतिकृति के पास जाकर उसके सिर पर से ढक्कन उठा लिया। ढक्कन के उठते ही पूरा कमरा भयंकर दुर्गंध से भर गया। सभी नाक भौंचढ़ाने लगे कि यह क्या बदतमीजी है। मल्लिकुमारी ने पूछा, 'तुम इसी मल्लिकुमारी के लिए लालायित हो? यह मेरी अपनी ही प्रतिमूर्ति है और पिछले सात दिनों से इसमें भोजन-पानी और अन्य खाद्य पदार्थ डाल रही हूँ और अब यह अन्न-पानी सब सड़ाँध देने लगा है, उससे दुर्गंध आ रही है। प्रिय राजकुमारो ! मेरी यह काया जो इसी तरह हाड़-मांस, मज्जा, रक्त से निर्मित है और निरंतर भोजन करते हुए इसी तरह सड़ाँध देती है, मल-मूत्र उत्सर्जित करती है, ऐसे शरीर के प्रति तुम लोग लालायित हो? अशुचि से भरी इस काया के प्रति जितनी तुम्हारी मूर्च्छा है, काश वही अभीप्सा कायनात के प्रति हो जाती !

अपनी मूर्ति रूप प्रतिकृति से मल्लि ने उन छः राजकुमारों को प्रतिबोध दिया । देह की नश्वरता और अपवित्रता का भान कराया, देह में रहने वाले विदेह का ज्ञान कराया । और कहते हैं कि मल्लिकुमारी ने अन्त में संन्यास ले लिया और वे छः राजकुमार भी अपने राजपाट का त्याग कर उसके अनुगामी बने ।

शरीर का मोह हट जाए चित्त और विचारों से । केवल सजगता और सहजता आए, तो जीवन की भाव-चिकित्सा हो जाए । शरीर से तादात्म्य विच्छिन्न हो और आत्मलीनता बढ़े, यही जीवन की उन्नति का परम सूत्र है । हम उस उन्नत सूत्र के स्वामी बनें; यही सजगता चाहिए, यही शुभ दृष्टि चाहिए ।

ऊपर उठो, ऊपर उठो !

क्योंकि तुम इंसान हो,

परमात्मा की जान हो,

तुम गगन से और भी,

ऊपर उठो, ऊपर उठो ।

वृत्ति पाशव छोड़ दो,

वेग को तुम मोड़ दो,

हे मनुज के वंशधर,

ऊपर उठो, ऊपर उठो ।

तुम चढ़ो दिग्मेरु पर,

तुम चढ़ो हो अग्रसर,

धूम्र-वर्षा-मेघ से

ऊपर उठो, ऊपर उठो ।

मनुष्य ऊपर उठे, मृत्यु से, मृण्मय से, असत् से, तमस् से । व्यक्ति बढ़े अमर्त्य की ओर, असत् से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, देह से विदेह की ओर । तुम जितने आकाश की ओर उठोगे, माटी का मोह नीचे छूटता-छिटकता जाएगा । तुम जितना माटी पर केन्द्रित रहोगे, ज्योति से उतने ही दूर बने रहोगे ।

आओ, आज हम प्रयोग करते हैं अपने आप पर मृण्मय से चिन्मय की ओर

चलने की, चिता से चैतन्य की ओर उठने की ।

यह प्रयोग ध्यानयोग का ही चरण है । पहले चरण में हम दस मिनट तक अपने आपको श्वास पर केन्द्रित करें । अपनी आती-जाती श्वास पर जन्म और मृत्यु का, प्रतिक्षण हो रही क्षणभंगुरता को निहारें । श्वास की गति मन्द और चित्त शांत । श्वास को देखने में इतने दत्तचित्त हो जाओ कि श्वास अर्जुन की आँख बन जाए । सिवा श्वास के और कुछ दिखाई न दे । समग्रता से श्वास का निरीक्षण ।

दूसरे चरण में अपने आपको पाँव के अंगुठे पर केन्द्रित करो । यह चरण लेते हुए पूरा हो, तो ज्यादा बेहतर । और जब लगे कि पाँव की चेतना और तुम्हारी सजगता की चेतना एक लय हो गई है, तो जैसा कि शिव ने कहा है कि तुम अपने अंगुठे से जलती हुई अग्नि को ऊपर उठता देखो । तुम पाओगे कि तुम्हारे पंजे जल रहे हैं और पंजों की जगह राख बची है । तुम अग्नि को धीरे-धीरे ऊपर उठने दो—अपने होश को अग्नि पर केन्द्रित रखे हुए । अग्नि में सब कुछ जलता जाए—पाँव, जंघा, पेट, हाथ, छाती, गला, और अन्त में मस्तक तक पहुँच जाओ । वह भी जल जाए । तुम्हारी ऐसी आत्मदशा बन जाए कि काया और उसमें समाया असत् और तमस् सब कुछ जल चुका है । मानो, तुम चिता पर चढ़ाए जा चुके हो और चिता जल गई है । सब कुछ राख हो गया है ।

इस प्रयोग का तीसरा चरण होगा कि तुम देह से बाहर आकर अपनी जली देह को देखो । विदेह-दृष्टि से देह को देखो । तुम्हारी यह भाव-यात्रा तुम्हें बहुत निर्मल कर चुकी है । यह मृत्यु और अग्नि-संस्कार तुम्हें अमृत और चैतन्य कर चुकी है । तुम स्वयं में मुक्ति को साकार होते हुए पाओगे । हाँ, तब तुम जीते जी मुक्त हो जाओगे । शरीर रहेगा, पर तुम देहातीत हो जाओगे ।

अगर यह प्रयोग तुम कुछ दिन तन्मयतापूर्वक सम्पादित कर लो, तो तुम तुम न रहोगे; तुम वह हो जाओगे, जैसा होने के लिए तुम परमात्मा से प्रार्थना किया करते हो । हाँ, हमें मुक्ति चाहिए, मृत्यु से पहले मुक्ति । वह मुक्ति नहीं, जो मरने के बाद मिले । मुक्ति वह हो, जिसका रसास्वादन हमें जीते-जी उपलब्ध हो ।

आनन्द मनाओ, मस्त रहो । पुलक और विदेह-भाव से, आओ हम कुछ गुनगुनाएँ, अपने में आएँ—

अब कबीरा क्या सिएगा,
जल रही चादर पुरानी ।

मिट्टी का है मोह कैसा,
ज्योति ज्योति में समानी ॥
जल रही चादर पुरानी..... ।

तन का पिंजरा रह गया है,
उड़ गया पिंजरे का पंछी ।
क्या करें इस पिंजरे का,
चेतना समझो सयानी ॥
जल रही चादर पुरानी.....

घर कहाँ, है धर्मशाला
हम रहे मेहमान दो दिन ।
हम मुसाफिर हों भले ही,
पर अमर मेरी कहानी ॥
जल रही चादर पुरानी..... ।

जल रही धूँ-धूँ चिता
और मिट्टी मिट्टी में समानी ।
'चन्द्र' आओ हम चलें अब
मुक्ति की मंजिल सुहानी ॥
जल रही चादर पुरानी..... ।



ध्यानयोग : प्रयोग-पद्धति

प्रभात-सत्र

समय : लगभग सवा घंटा

सूर्योदय से पूर्व स्नान कर श्वेत वस्त्र अंगीकार करें। ध्यान की बैठक के लिए शान्त-एकान्त और हवादार स्थान का चयन करें। बैठने के लिए नरम मोटे आसन की व्यवस्था रखें। ध्यान में उतरने से पूर्व स्वास्थ्य-शुद्धि, वातावरण-शुद्धि और प्राण-शुद्धि के लिए प्रार्थना-मन्त्रोच्चार, योगासन और प्राणायाम सम्पादित करना सहज लाभकारी है।

भाव-शुद्धि

प्रार्थना

१० मिनट

तन-मन और वातावरण की शुद्धि के लिए करबद्ध हों, भावपूर्वक सस्वर मन्त्रोच्चार करें—

नवकार-महामंत्र

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आयरियाणं
 णमो उवज्झायाणं
 णमो लोए सव्व साहूणं ।
 एसो पंच णमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो ।
 मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवई मंगलं ।*

गायत्री-महामंत्र

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

नमन-सूत्र

ओंकार बिन्दु-संयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
 कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥

अज्ञान-तिमिरान्धानाम्, ज्ञानांजन-शलाकयाः ।
 चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै सदगुरवे नमः ॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः; सर्वे संतु निरामयाः ।
 सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भागभवेत् ॥

ध्यान-भावना की समृद्धि के लिए हम जीवन-गीत गाएँ । (जीवन-गीत का भावार्थ हृदय में उतारते हुए सस्वर पाठ करने से आध्यात्मिक संकल्प और अहोभाव का विकास होता है, ध्यान में उतरने की भावनात्मक भूमिका निर्मित होती है ।)

जीवन-गीत

मानव स्वयं एक मंदिर है,
 तीर्थ रूप है धरती सारी ।
 मूरत प्रभु की सभी ठौर है,
 अन्तरदृष्टि खुले हमारी ॥

जीवन का सम्मान करें हम,
 जीवन में भगवान् निहारें ।

* भावार्थ : अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुजनों को नमस्कार हो, जो पाप-विनाशक और प्रथम मंगल-रूप है ।

रूपांतरित करें जीवन को
जीवन को ही स्वर्ग बनाएँ ।

मानवता के मन-मंदिर में,
सम्बोधि का दीप जलाएँ ।
अन्तर्-शून्य उजागर करके,
आनन्द-अमृत से भर जाएँ ॥

भीतर की नीरवता पाकर,
ध्यान-प्रेम की बीन बजाएँ ।
अपने मन की परम शान्ति को,
सारी धरती पर सरसाएँ ॥

शरीर-शुद्धि

योगाभ्यास

१५ मिनट

प्रार्थना के बाद हम योगाभ्यास करें । (योगाभ्यास शारीरिक और मानसिक तनाव-मुक्ति के लिए सहज-सरल उपयोगी क्रियाएँ हैं । ध्यान में उतरने के लिए दो बातें सहायक हैं—

१. शारीरिक जड़ता की समाप्ति ।
२. शारीरिक स्थिरता की प्राप्ति ।

ध्यान-मार्ग पर पहले-पहल कदम बढ़ाने वालों का न केवल चित्त चंचल होता है, वरन् उनमें शारीरिक स्थिरता और स्वस्थता का भी अभाव होता है । ध्यान की गहराई में जाने की बजाय तंद्रा में डूब जाने की संभावना रहती है ।

शरीर माध्यम है और माध्यम का स्वस्थ, निर्मल और अनुकूल होना आवश्यक है । ध्यान की प्रारंभिक अवस्था में दैनंदिन अभ्यास के लिए सुबह-शाम दोनों समय लगभग एक घंटे तक ही आसन में तनाव-रहित स्थिरतापूर्वक बैठने की क्षमता साधक में होनी वांछित है । यह तभी संभव है जब हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग में पर्याप्त लोच हो, कोई जकड़न न हो, स्नायविक शांति हो और शरीर के जोड़ों तथा नस-नाडियों में दूषित वायु या अन्य विकार अवरुद्ध न हों । प्राणवायु के आगमन, दूषित वायु के निर्गमन

एवं रक्त-संचार में कोई बाधा न हो, क्योंकि ये ही हमारे संजीवन-शक्ति के संचार के माध्यम हैं ।)

अतः ध्यान से पहले सुबह थोड़ा योगाभ्यास करना आवश्यक है । योगाभ्यास को हम निम्न पाँच चरणों में पूरा करेंगे—

१. संधि संचालन	-	३ मिनट
२. स्थिर दौड़	-	२ मिनट
३. योगासन	-	३ मिनट
४. योगचक्र	-	४ मिनट
५. शवासन	-	३ मिनट

१. संधि-संचालन

शरीर में गर्दन, कंधे, कोहनी, कलाई, कमर, घुटने, टखने, अंगुलियों के जोड़-मुख्य संधि-स्थल हैं ।

दैनंदिन क्रिया-कलापों में इन संधि-स्थलों के अनियमित उपयोग के कारण इनमें जकड़न पैदा हो जाती है, जो शारीरिक स्थिरता और स्वस्थता में बाधक है । इन संधि-स्थलों के मुक्त संचालन के लिए हम निम्न व्यायाम करें—

(क) पद-संधि संचालन : नीचे बैठ जाएँ । दोनों पैरों को सामने की तरफ फैला लें । हाथों को घुटनों पर रखें । रीढ़ की हड्डी और गर्दन सीधी हो । पैर के पंजों को मिलाकर तीन-तीन बार आगे-पीछे झुकाएँ । तत्पश्चात् दोनों पंजों को तीन बार दाहिनी ओर से बायीं ओर तथा तीन बार बायीं ओर से दाहिनी ओर गोल घुमाएँ ।

(ख) हस्त-संधि संचालन : हाथों को जमीन के समानान्तर सामने की तरफ फैलाएँ । हथेलियों और अंगुलियों को पूरा खोलें । अब अंगुलियों के प्रत्येक जोड़ पर जोर डालते हुए, मुट्टियाँ कसते हुए सीने की तरफ ले जाएँ । मुट्टियाँ खोलते हुए पुनः हाथ फैलाएँ । तीन-तीन बार इस क्रिया को दोहराएँ ।

हाथों को पूर्ववत् फैला रहने दें । मुट्टियाँ बंद करें । कलाई के जोड़ों को धीरे-धीरे गोल घुमाएँ । तीन बार दाहिनी तरफ से, तीन बार बायीं तरफ से । ध्यान रहे, हाथ सीधे रहें ।

(ग) **स्कंध-संचालन** : हाथों को कोहनी से मोड़कर अंगुलियों की अंजलि-सी बनाकर कंधों पर रखें और कोहनियों के साथ कंधों के जोड़ों को तीन बार आगे से पीछे की ओर तथा तीन बार पीछे से आगे की ओर गोलाकार घुमाएँ। ध्यान रहे कि इस पूरी प्रक्रिया में अंगुलियाँ कंधों पर रखी रहें।

(घ) **गर्दन-संचालन** : गर्दन संचालन क्रिया के तीन चरण हैं—

पहले चरण में साँस भरे, गर्दन को सामने की तरफ झुकाकर टुड्डी को कंठ-कूप से लगाने का प्रयास करें। फिर धीरे-धीरे साँस छोड़ते हुए गर्दन पीछे की तरफ ले जाएँ और सिर का पिछला हिस्सा पीठ से लगाने का प्रयास करें। तीन बार आगे-पीछे इस क्रिया को दोहराएँ।

द्वितीय चरण में गर्दन को बारी-बारी से तीन-तीन बार दायें-बायें घुमाएँ।

तृतीय चरण में गर्दन को पूरा गोल घुमाएँ। तीन बार दाहिनी तरफ से घुमाने के उपरांत तीन बार बायीं तरफ से इसी तरह गोल घुमाएँ।

इस क्रिया को सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे करें। गर्दन में कोई झटका/जर्क न आने पाए।

(ङ) **कटि-संधि संचालन** : यह कमर एवं रीढ़ का व्यायाम है। खड़े हो जाएँ। इसे दो चरणों में पूरा किया जाता है। पहले चरण में पैरों को परस्पर जोड़े रखें। दोनों हथेलियों को कमरबंध पर रख लें और फिर कमर के निचले हिस्से को तीन बार दायीं ओर से तथा तीन बार बायीं ओर से गोलाकार घुमाएँ।

दूसरे चरण में पाँवों के बीच डेढ़ फुट की दूरी रखते हुए हाथों को पंखों की तरह फैला दें और शरीर के ऊपरी हिस्से को क्रमशः दायीं और बायीं ओर से पीछे की तरफ मोड़ें। ध्यान रहे शरीर का नीचे का भाग स्थिर रहे।

२. स्थिर दौड़

शरीर के आलस, प्रमाद और तमस् को मिटाने के लिए स्थिर/खड़ी दौड़ की जाती है। इसे पारम्परिक शब्दावली में कदमताल कहते हैं और प्रचलित भाषा में जोगिंग। इससे शरीर में स्फूर्ति और ऊर्जा का संचार होता है।

इसके लिए अपने आसन पर ही खड़े-खड़े दौड़ लगाएं। धीरे-धीरे गति बढ़ाएँ

और धीरे-धीरे कम करें। ध्यान रहे पाँवों की पिंडलियाँ जंघाओं से स्पर्श करें।

अब हम सुगमतापूर्वक कुछ योगासन कर सकते हैं।

३. योगासन

योगासनों में शरीर की प्रत्येक यौगिक क्रिया को सहजता और तन्मयता से किया जाता है और पूरी प्रक्रिया में श्वास-प्रश्वास पर ध्यान केंद्रित रखा जाता है। हम निम्न योगासन संपादित करें—

(क) **अर्द्ध-कटि चक्रासन** : पाँवों को एक-दूसरे से सटाकर सावधान-मुद्रा में खड़े हो जाएँ। साँस भरते हुए दायीं बाँह ऊपर उठाएँ। कंधे की सीध पर हाथ के आते ही हथेली को ऊपर की ओर मोड़ें; फिर बाँह को ऊपर उठाते हुए कान से चिपका लें। ऊपर खिंचाव दें। अब धीरे-धीरे कमर से बायीं ओर झुकें। बायीं हथेली को बायें पैर के घुटने से जितना नीचे संभव हो, ले जाएँ। झुकते हुए साँस छोड़ें। ध्यान रहे कोहनी और घुटने मुड़ने नहीं चाहिए। सामान्य रूप से साँस लेते हुए अपनी सामर्थ्य के अनुसार आसन की स्थिति में रहें, फिर धीरे-धीरे साँस भरते हुए सीधे हों, दायाँ हाथ नीचे ले आएँ। अब यही क्रिया बाईं ओर से दाईं ओर झुककर करें। पूरे आसन के दौरान रक्त-प्रवाह में आते परिवर्तन पर ध्यान रखें।

(यह आसन रीढ़ को स्वस्थ और लचीला बनाता है। पाचन क्रिया को सुधारता है। स्नायुओं को सक्रिय करता है।)

(ख) **त्रिकोणासन** : सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों पैरों के बीच लगभग एक मीटर की दूरी रखें। दोनों हाथों को कंधों के समानान्तर दाएं-बाएं फैलाएँ। साँस भरें। साँस छोड़ते हुए धीरे-धीरे सामने झुकते हुए दायें हाथ से बाएं पाँव के अंगूठे को स्पर्श करें। बायाँ हाथ ऊपर आसमान की ओर उठेगा। गर्दन को ऊपर की ओर घुमाते हुए दृष्टि को बाएँ हाथ की हथेली पर स्थिर करें। सामान्य साँस लेते हुए सामर्थ्य भर आसन की स्थिति में रुकें। घुटने नहीं मुड़ने चाहिए। धीरे-धीरे सामान्य स्थिति में आ जाएँ। फिर इसे बाईं तरफ से दोहराएँ।

(यह आसन जांघ, पीठ, पेट और पैर के तलुओं की मांस-पेशियों के लिए उत्तम व्यायाम है। मधुमेह, किडनी, लीवर और आमाशय के रोगों पर इससे नियन्त्रण होता है। सम्पूर्ण देह में ऊर्जा और स्फूर्ति का संचार होता है।)

४. योग-चक्र

योग-चक्र सर्वांग व्यायाम है। यह बारह आसनों और योग-मुद्राओं की एक क्रमबद्ध श्रृंखला है। इसके दैनिक अभ्यास से शारीरिक जड़ता मिटती है। शरीर स्वस्थ, बलिष्ठ और कांतिमय होता है, पाचन-शक्ति का विकास होता है, रक्त एवं प्राण का संचार सुचारु होता है; साथ ही मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों का विकास होता है और आंतरिक पवित्रता बढ़ती है। आवेश और विकल्पों में शिथिलता आती है। आत्मिक तेजस्विता से पूर्ण आभामंडल का विकास होता है। साहस, निडरता और आत्म-विश्वास में वृद्धि होती है। प्रतिदिन प्रातःकालीन ध्यान से पूर्व यह प्रक्रिया की जाती है।

विधि : सूर्य अथवा अपने इष्ट की ओर मुँह करके 'नमस्कार-मुद्रा' में खड़े हो जाएँ। हृदय में पूर्ण समर्पण भाव जाग्रत करते हुए प्रकाश-रूप परमात्मा को प्रणाम करें और अग्रलिखित मन्त्र तीन बार उच्चारित करें—

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

असतो मा सदगमय ।

मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥*

तत्पश्चात् योगचक्र की एक-एक मुद्रा सम्पादित करें।

पहली मुद्रा : हस्त-उत्तान-आसन

साँस भरते हुए दोनों हाथों को ऊपर की ओर उठाएँ। भुजाएँ कान से लगी हुई हों। जितना हो सके, हाथ और सिर को पीछे की ओर झुकाएँ।

दूसरी मुद्रा : पादहस्तासन

साँस छोड़ते हुए धीरे-धीरे आगे की ओर झुके। हाथ को पैरों के पास जमीन पर रखने का प्रयास करें। सिर को घुटनों से लगाएँ। घुटनों को सीधा रखें, घुटने मुड़ने न पाएँ। ध्यान रखें जितना झुक सकें, उतना ही झुके, जबरदस्ती न करें।

* भावार्थ : हे प्रभु, ले चलो हमें अंधकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर।

तीसरी मुद्रा : अश्व-संचालन-आसन

हाथों को जमीन पर ही रखें। साँस भरते हुए दायें पैर को पीछे की ओर ले जाएँ और घुटनों को जमीन का आधार दें। बायें पाँव की जंघा को पिंडली से जोड़ें। बायाँ पाँव दोनों हथेलियों के बीच हो। दृष्टि ऊपर की ओर हो। बैठक को नीचे की ओर दबाव दें।

चौथी मुद्रा : तुला-आसन

तीसरी मुद्रा में बायाँ पैर जो आगे रहा, उसे पीछे फैलाकर दायें पैर के पास ले जाएँ और हाथ-पाँव के बल शरीर को सीधा रखें। तराजू की झुकी हुई स्थिति।

पाँचवीं मुद्रा : शशांक-आसन

पंजों और घुटनों के बल बैठ जाएँ वज्रासन में। फिर धीरे-धीरे हाथों को ऊपर उठाकर सिर तथा हाथ को सीधे जमीन से स्पर्श करें। सिर दोनों हाथों के मध्य रहेगा तथा ललाट भूमि पर। दोनों नितम्ब एड़ियों पर टिके रहेंगे।

छठी मुद्रा : साष्टांग प्रणाम-आसन

पेट के बल उल्टा लेट जाएँ, हाथ सीधे सामने की ओर रखें। शरीर पूरा ढीला रखें। गर्दन को सीधा करें, ललाट जमीन से स्पर्श हो और प्रणाम-भाव के साथ तीन गहरी साँस लें।

सातवीं मुद्रा : भुजंगासन

दोनों हथेलियों को पसलियों के पास धरती पर टिकाकर कन्धे और नाभि के हिस्से को साँस भरते हुए ऊपर की ओर उठाएँ—नागफन की तरह।

आठवीं मुद्रा : धनुरासन

जमीन पर उल्टा लेट जाएँ। पैरों को घुटने से कमर की ओर मोड़ें। हाथों से पैरों को टखनों के पास पकड़ें। शरीर को दोनों ओर से भीतर खींचने का प्रयास करें। सिर ऊपर की ओर उठाएँ।

नौवीं मुद्रा : पर्वतासन

साँस छोड़ते हुए हथेलियों को सामने फैलाकर जमीन पर रखें। पैरों को सीधा करें। कमर को धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाएँ। हाथ और पाँव के बल पर्वताकार में स्थिर हों। एड़ियों को जमीन पर लगाने का प्रयास करें।

दसवीं मुद्रा : अश्व-संचालन-आसन

यद्यपि यह तीसरी मुद्रा की पुनरावृत्ति है, किन्तु इसमें दायाँ पैर दोनों हाथों के बीच रहेगा और बायाँ पैर पीछे की ओर फैला हुआ।

ग्यारहवीं मुद्रा : पाद-हस्तासन

यह दूसरी मुद्रा की स्थिति है। पाँव के अंगूठे से हाथ की अंगुलियाँ स्पर्श करें और सिर घुटनों को।

बारहवीं मुद्रा : हस्त-उत्तान आसन

साँस भरते हुए धीरे-धीरे सीधे खड़े हों, हाथों को आसमान की ओर उठाकर पहली मुद्रा संपन्न करें।

नमस्कार-मुद्रा में खड़े हों। परमात्मा का स्मरण करें और हाथों की अंगुलियों को कमल की पंखुरियों की तरह फैलाएँ। बड़े प्रेम और अहोभाव के साथ यह श्रद्धा-सुमन परम पिता परमात्मा को समर्पित करें।

५. श्वासन

आसनों के बाद श्वासन किया जाना चाहिए। यह योगाभ्यास की पूर्णाहुति है।

पीठ के बल चित लेट जाएँ। गर्दन अपनी सुविधानुसार दाँये या बायें निढाल छोड़ दें। पैरों के बीच एक फुट की दूरी हो। जाँघों, पिंडलियों और पंजों में कोई तनाव न रहे। दोनों हाथों को शरीर से थोड़ा दूर रखें। हथेलियाँ आसमान की ओर खुली हुई हों। आँखें बंद।

शरीर से अपनी पकड़ को छोड़ें। पूरे शरीर को मानसिक रूप से देखें। शरीर के कौन-कौन से अंग विशेष तनावग्रस्त हैं, उन्हें देखें, अनुभव करें और ढीला छोड़ें।

शिथिलता का अनुभव करें। अब पैर के अंगूठे से प्रारम्भ कर सिर के बालों तक, चित्त को एक-एक अंग पर एकाग्र करें और उसे तनाव-मुक्ति का सुझाव दें। जैसे—

दाएँ पैर का अंगूठा तनाव-मुक्त हो जाये।

तनाव-मुक्त हो रहा है।

तनाव-मुक्त हो गया है। (शिथिलीकरण अवश्य करें)

प्रत्येक अंग पर ध्यान केन्द्रित कर इसी सुझाव को दोहराएँ। ऐसा अनुभव करें कि हम शरीर नहीं, शरीर से भिन्न चेतन-सत्ता हैं। शरीर से हमारा तादात्म्य छूट चुका है। शरीर को शव की तरह अपने से अलग पड़ा हुआ देखें। साँस की गति को भी स्वसूचन द्वारा शिथिल और मंद करें। कुछ क्षण साँस को पूर्णतः बाहर ही रोके रहें अर्थात् साँस छोड़कर फिर साँस न लें। पूर्ण शिथिलता का, विश्राम का अनुभव करें। यथाशक्ति कुछ देर इसी स्थिति में रुककर धीरे-धीरे गहरी लंबी साँस भरें। पूरे शरीर पर अपनी चैतन्य-दृष्टि दौड़ाएँ और साँस के साथ शरीर में प्रवेश करें। शरीर के प्रत्येक अंग में चेतना का संचार करें। धीरे-धीरे हाथ-पैरों को हिलाएँ। बाँयी करवट लेकर धीरे से उठकर बैठ जाएँ।

विशेष—शवासन कभी भी किया जा सकता है। जब कभी हम तनावग्रस्त या थके हुए हों, तुरंत पांच-दस मिनट के लिए शवासन करें। तनाव और थकान से अवश्य छुटकारा मिलेगा। अनिद्रा और उच्च रक्तचाप के समाधान में यह बहुत ही सहायक है। चित्त को शांत कर ध्यान लगाने में उपयोगी है।

शिविर के दिनों में स्व-सूचन का, आत्म-निर्देशन का अच्छी तरह अभ्यास कर लें, ताकि घर जाकर भी इसे स्वतः कर सकें। प्रत्येक संकेत बड़े प्यार भरे कोमल स्वर में दें। आज्ञापक या आदेशात्मक शब्दों का उपयोग न करें।

प्राण-शुद्धि

प्राणायाम

५ मिनट

आसनों के बाद क्रम आता है प्राणायाम का। हमारा जीवन प्राण-शक्ति से संचालित है। 'प्राण' मन, वाणी और कर्म की सम्पादन-शक्ति का पर्याय है। प्राण-शक्ति जितनी स्वस्थ, शुद्ध और संतुलित होगी, हमारा चिंतन-मनन और रहन-सहन भी उतना ही स्वस्थ, शुद्ध और संतुलित होगा। प्राण-तत्त्व आत्मा और शरीर का सेतु है।

मनुष्य चौबीस घंटे में लगभग पचीस हजार श्वासोच्छ्वास लेता है। प्राणायाम का मूल उद्देश्य है प्राण को विस्तार देना। हमारी प्राण-शक्ति सध जाए तो श्वास-प्रश्वास की गति घटकर प्रतिदिन लगभग आठ-दस हजार तक लाई जा सकती है, जिसका अर्थ है—अपेक्षाकृत अधिक शांत, आनन्दमय और दीर्घ जीवन। प्राणायाम इस प्राण-शक्ति को साधने का प्रयोग है।

हमारा श्वास-प्रश्वास स्वतः जैसा चल रहा है, उसके प्रति हमारी कोई सजगता-सचेतनता नहीं है। कई तरह की अच्छी-बुरी संवेदनाओं का मन पर प्रभाव पड़ता है, जिससे प्राणधारा असंतुलित हो जाती है। प्राणधारा के इस विचलन को समाप्त कर पुनः संयमित, संतुलित करना ही प्राणायाम है। इससे शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनावों से मुक्त होने में मदद मिलती है। प्राणायाम स्वस्थ, सुन्दर और सुदीर्घ जीवन की कुंजी है। यह भटकती हुई मनोवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करने का उपक्रम है।

प्राणायाम के कई भेदोपभेद हैं, लेकिन ध्यान-साधना के लिए सर्वाधिक उपयोगी नाड़ी-शुद्धि प्राणायाम है।

विधि : सुखासन में बैठें। प्राणायाम करने के लिए हाथ की नासिका मुद्रा बनाएं। तर्जनी और मध्यमा अंगुली को हथेली की तरफ मोड़ दें। अंगूठा और अनामिका तथा कनिष्ठा अंगुली खुली रहे। दायाँ नासिका को बन्द करने के लिए अंगूठे का और बायाँ नासिका को बन्द करने के लिए कनिष्ठा और अनामिका अंगुली का प्रयोग करें। बाएँ से साँस भरें, दाएँ से छोड़ दें। फिर दाएँ से साँस भरें, बाएँ से छोड़ दें।

रेचक का समय पूरक से कम-से-कम दो गुना या इसके गुणनफल में हो अर्थात् साँस छोड़ने का समय साँस भरने के समय से दो गुना अथवा ज्यादा हो।

यह नाड़ी-शुद्धि का एक चक्र है, इसे नौ बार दोहराएँ। साँस भरते हुए उसकी शीतलता और छोड़ते हुए ऊष्मा का अनुभव करें।

खाली पेट, शौच से निवृत्त होकर सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के पश्चात् इसका अभ्यास करें। जो लोग योगाभ्यास के लिए समय न निकाल पाएँ, वे नाड़ी-शोधन प्राणायाम अवश्य ही कर लें।

लाभ : तीन से छह माह के निरन्तर एवं मनोयोग पूर्ण अभ्यास से इसके लाभ

प्रत्यक्ष होने लगते हैं। शरीर हल्का एवं कान्तिमय हो जाता है। आँखों की चमक विकसित होती है। भूख बढ़ती है। शारीरिक एवं मानसिक एकाग्रता का विकास होता है। चित्त की चंचलता और कषायों का शमन होता है। ज्ञान-शक्ति, मेधा, प्रतिभा का प्रस्फुटन होता है। शरीर के मोह से मुक्त होकर चैतन्य अनुभव होता है।

ध्यान-विधि

चैतन्य-ध्यान

४५ मिनट

प्रार्थना, आसन, प्राणायाम के अभ्यास से ध्यान में उतरने की भूमिका बन जाती है। शरीर की जड़ता एवं मन की तंद्रिलता समाप्त होकर प्रफुल्लता का विकास होता है। हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभिमुख हुए। इसी भाव-भूमि पर ध्यान का अवतरण संभव है। अतः अब साधकों को प्रातःकालीन ध्यान की साधना करनी चाहिए। चैतन्य-ध्यान में प्राणायाम, ओंकार मंत्र और आत्म-सजगता का सम्मिश्रित आधार देते हुए अन्तर्यात्रा की जाती है। चैतन्य-ध्यान एक प्रकार से 'ओंकार-ध्यान' है। ओंकार बीज मन्त्र के द्वारा अन्तरमन की एकाग्रता, स्वच्छता और चैतन्य-जागरण ही चैतन्य-ध्यान का ध्येय है।

चैतन्य-ध्यान के पाँच चरण हैं—

१. ओंकारनाद	-	७ मिनट
२. सहज स्मृति	-	१० मिनट
३. अन्तर-यात्रा	-	१० मिनट
४. अन्तर्मन्थन	-	३ मिनट
५. चैतन्य-बोध	-	१० मिनट

सर्वप्रथम ध्यान के लिए सुविधाजनक आसन (बैठने की मुद्रा) का चयन करें, जिसमें हम लगभग ४५ मिनट स्थिरता से सुखपूर्वक बैठ सकते हों। पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन, सुखासन ध्यान के लिए उपयुक्त हैं। सिद्धासन विशेष अनुकूल रहता है। खड़े होकर भी ध्यान किया जा सकता है। जिन्हें तंद्रा अधिक सताती हो, उन्हें खड़े होकर ही ध्यान करना चाहिए। अस्वस्थता आदि अपरिहार्य स्थितियों में लेटकर भी ध्यान किया जा सकता है, पर इसे आदत नहीं बनाना चाहिए।

उपयुक्त आसन का चुनाव कर सहज स्थिर बैठें। पूरे शरीर का मानसिक निरीक्षण कर यह जांचें कि शरीर के किसी भाग में तनाव या जकड़न शेष है? मानसिक निर्देश से उस अंग के तनाव को शिथिल करें। आंतरिक प्रसन्नता को खिलने दें। नेत्र बन्द करें। अंतरदृष्टि से गुरुदर्शन करते हुए ध्यान का संकल्प लें और चैतन्य-ध्यान में प्रवेश करें।

किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व संकल्प पूर्व-भूमिका का काम करता है। संकल्प हमें लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। इसके लिए जरूरी है कि संकल्प दृढ़ हो, संकल्प का सदा स्मरण रहे एवं संकल्प को क्रियान्वित करें। यह संकल्प वास्तव में ध्यान की दीक्षा है। सद्गुरु के चरणों में बैठकर दीक्षित होने के पश्चात् ध्यानमार्ग में प्रवृत्त हुआ जाता है, क्योंकि यही गुरु और साधक के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

‘शरण-सूत्र’ बोलकर उपसंपदा स्वीकार करें—

शरण-सूत्र

अरिहंते सरणं पवज्जामि ।
सिद्धे सरणं पवज्जामि ।
साहू सरणं पवज्जामि ।
धम्मं सरणं पवज्जामि ।
अप्पं सरणं पवज्जामि ॥*

प्रथम चरण : ओंकारनाद

गहरी साँस भरें। नाभि पर ध्यान केन्द्रित कर ओम् का उच्चार करें। एक बार उद्घोष, फिर तीन बार सहज साँस, फिर उद्घोष। ओंकारनाद की प्रक्रिया में ध्यान नाभि/शक्ति-केन्द्र से प्रारंभ होकर ऊपर उठता हुआ क्रमशः हृदय, कंठ, नासिका मूल, भृकुटी, ललाट से गुजरता हुआ शिखा/सहस्रार तक जाए। प्रत्येक स्तर पर ओंकार ध्वनि के वर्तुल प्रकंपनों को अनुभव करने का प्रयास करें। नाभि, हृदय, कंठ, कान एवं कपाल पर ओम् की अनुगूँज को सुनने का प्रयास करें। निरन्तर अभ्यास से जैसे-जैसे इन्द्रियाँ अंतर्मुखी होने लगती हैं, प्रकम्पनों की सूक्ष्म संवेदनाओं को ग्रहण करने की क्षमता विकसित हो जाती है। नाद के प्रति अपनी सजगता बनाए रखें। नाभि, हृदय

* भावार्थ : अरिहंत, सिद्ध, साधु, धर्म और आत्मा की शरण स्वीकार करता हूँ।

और कंठ से गुजरते हुए 'ओ' एवं भृकुटी-मध्य, ललाट और कपाल पर 'म्' का नाद होना चाहिए। अपने होश को पूरी तरह नाद के साथ जोड़ने पर ही यह संभव होगा। इसलिए पूर्ण सजगता, जागरूकता अत्यंत आवश्यक है। इस तरह साँस भरते-छोड़ते हुए पाँच बार सस्वर ओंकारनाद करें। शनैः-शनैः ओंकारनाद को यथासंभव अधिक-से-अधिक लंबा और गहरा करने का प्रयास करें। पाँच बार इस रीति से ओंकारनाद संपन्न होने पर दो बार उच्च स्वर में ओंकार का उद्घोष करें।

ओम् की पराध्वनि और उसके प्रकंपनों के प्रति अपनी सजगता और बढ़ाएँ। इस तरह ओंकार का पाँच बार सामान्य और दो बार तीव्र स्वर से उद्घोष करने के उपरान्त ओम् की अनुगूँज प्रारंभ करें। अनुगूँज ओंकारनाद का दूसरा चरण है। होंठ बन्द हों। जीभ अचल हो। केवल अंदर-ही-अंदर ओम् का गुंजारण करें। इस अनुगूँज को नासामूल/भृकुटी मध्य पर अनुभव करें और चेतना की गहराई में उतरने दें। बाहर की किसी भी ध्वनि पर ध्यान न दें, केवल अनुगूँज पर ही अपनी पूरी चेतना केन्द्रित करें।

अनुगूँज भी पहले पाँच बार सामान्य स्वर में और अंत में दो बार उच्च एवं तीव्र स्वर में संपन्न कर एकदम मौन, शांत हो जाएँ। अभी कुछ समय तक ध्वनि के प्रकंपन अनुभव होंगे। अपनी सजगता को पूरी तरह अनुगूँज के प्रकंपनों पर केन्द्रित करें। नाद की परा-तरंगों जब शरीर की प्रतिरोधिगामिनी तरंगों से एकलय होती हैं, तो शरीर में शांति प्रकट होने लगती है, यही प्रथम चरण की पृष्ठभूमि है।

द्वितीय चरण : सहज स्मृति

इस चरण में अंदर-ही-अंदर ओम् का मानसिक जाप करते हैं। जाप में निरन्तरता और लयबद्धता होनी चाहिए, अतः ओम् के स्मरण को सहज सांस के साथ जोड़ें। एक सांस में एक बार ओम् का मानसिक जाप करें। ओम् को ही अपने चिंतन का केन्द्र बनाएं। कोई शारीरिक संवेदना, मानसिक विकल्प, विचार उभरें, तो उन पर ध्यान न दें, न ही उन्हें उठने से रोके। उन्हें अपना काम करने दें, पर स्वयं को उनसे पृथक् अनुभव करते हुए केवल ओम् पर चित्त को एकाग्र करें। दस मिनट तक इसी तरह एकाग्रचित्त होकर प्रत्येक सहज सांस के साथ निरन्तर ओम् का स्मरण पूरी समग्रता और गहराई से जारी रखें। भृकुटी मध्य पर प्रकाशमय उज्ज्वल ओम् की आकृति देखें। मस्तिष्क को ओम् की आवृत्तियों से भर जाने दें।

इस द्वितीय चरण में मन का कोलाहल शांत होना शुरू होता है और साधक

के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का निर्माण होता है ।

तृतीय चरण : अन्तर्-यात्रा

तृतीय चरण में ओम् के स्मरण के साथ श्वास की गति मंद से मंदतर करनी है । सांस धीमी हो और सहयात्री हो ओम् । इस चरण में अन्तर् मन के साथ ओम् की सहयात्रा होती है ।

द्वितीय चरण की तरह एक साँस के साथ एक ओम् की आवृत्ति जारी रहे, लेकिन अब सहज साँस के स्थान पर मंद साँस हो अर्थात् साँस की गति कम होती जाए । प्रत्येक साँस पर ओम् पूरी तरह फैला हुआ हो । एक भी साँस बिना ओम् को साथ लिए न आए, न जाए । लगभग पाँच मिनट तक ओम् की मंद साँस के साथ सहयात्रा जारी रहे । अन्तर्-यात्रा का प्रथम भाग इस तरह संपन्न हुआ । अब सांसों की मंदगति बरकरार रखते हुए सांसों की गहराई बढ़ाएँ । सांसों के स्पन्दन ठेठ नाभि के नीचे तक भी अनुभव करें और ओम् को इस गहराई में उतारें । गहरी दीर्घ सांसों के साथ ओम् का गहरा स्मरण लगातार पाँच मिनट तक जारी रहे ।

इस चरण में ओम् अवचेतन मन में स्वतः उतरने लगता है एवं शरीर के विभिन्न चेतना-केन्द्र सक्रिय और निर्मल होते हैं ।

चतुर्थ चरण : अन्तर्-मंथन

अब श्वास-प्रश्वास को तीव्रता प्रदान करें । धीरे-धीरे साँसों की गति बढ़ाएँ और प्रत्येक सांस के साथ ओम् का गहन स्मरण करें । साँसों की गति निरन्तर बढ़ाते चले जाएँ और उतन ही तीव्र गति से ओम् की आवृत्ति भी । ओम् और साँस, साँस और ओम् । अपने एक-एक अणु, एक-एक रोम, एक-एक स्नायु को साँसों के द्वारा ओम् की चेतना से जाग्रत करें । अनुभव करें, मानस में इस दृश्य को साकार करें कि हमारा कण-कण शुभ्र प्रकाश से चमकने लगा है और हमारे अन्तर् मन के कषाय और विकार साँस के माध्यम से तीव्र गति से बाहर फैंके जा रहे हैं । तीव्र श्वास-प्रश्वास के साथ ओम् के स्मरण को अधिकतम तीन मिनट तक जारी रखें ।

तृतीय चरण में ओम् अवचेतन मन की गहराई में उतरता है, जबकि चतुर्थ चरण में यह अवचेतन मन को भी शान्त कर साधक को चैतन्य से भर देता है । तन-मन ऊर्जस्वित हो जाता है ।

पंचम चरण : चैतन्य-बोध

श्वास को तीव्रतापूर्वक छोड़कर स्वयं को रिक्त कर लें और अन्तर के शून्य में डूब जाएँ । विश्राम, परम मौन ! इस चरण में कोई क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रयास नहीं करना है । केवल साक्षी होकर देखना है । संसार से, समाज से, परिवार से, चित्त से, कषायों से भिन्न अपने चैतन्य को देखें, अनुभव करें । स्वयं में ऊर्जा-जागरण और विद्युत-प्रकम्पनों का अनुभव होगा । कम-से-कम दस-पन्द्रह मिनट तक अपने सहज स्वरूप में निमग्न रहें ।

पंचम चरण की अन्तिम स्थिति है—साधक की अस्तित्वगत अशांति का सम्पूर्ण समाधान, समस्त चिन्ताओं से मुक्ति और सच्चिदानन्द स्वरूप में अन्तरलीनता, अहोदशा । जब तक यह लीनता बनी रहे, तब तक डूबे रहें ।

सामान्य स्थिति में आने के लिए तीन गहरे साँस लें । हथेलियों को जोर से रगड़कर हल्के से आँखों पर रखें । हाथों में प्रवाहित हो रही ऊर्जा का अनुभव करें । हाथ आँखों से हटाकर धीरे-धीरे आँखें खोलें । जो भी प्राणी या व्यक्ति सर्वप्रथम सामने नजर आए, उसे प्रभुरूप मानकर स्नेह और मुस्कान-भाव से प्रणाम अर्जित करें ।

भाव-उत्सव

आत्मिक आनंद में डूबकर सामूहिक रूप से सस्वर 'भाव-गीत' का पाठ करें जो मैत्री, करुणा, प्रमुदितता और समता की हम पर अमृत वृष्टि करता है ।

भाव-गीत

परम प्रेम की रहे प्रेरणा,
हृदय हमारा रोशन हो ।
मैत्रीभाव के मधुर गीत से,
सारी धरती मधुवन हो ॥

खुद जिएँ सुख से, औरों को
सुख पहुँचाने का प्रण हो ।
हँसता-खिलता हो हर चेहरा,
स्वर्ग सरीखा जीवन हो ॥

दीन-दुखी जीवों की सेवा,
परमेश्वर का पूजन हो ।

घर आयों के आँसू पोंछे,
खुशहाली हर आँगन हो ॥

पथ-भूलों को पथ दरशाएँ,
धर्म-भावना हर उर हो ।
हर दरवाजा राम-दुवारा,
हर मानव एक मंदिर हो ॥

आत्म-बोध की रहे रोशनी,
आँखें मन की निर्मल हों ।
नमस्कार है हुलसित उर से,
सकल धरा धर्मस्थल हो ॥

निवेदन—भावगीत के समापन के साथ ही हम अपने हृदय में प्रेम, शान्ति, करुणा और आनन्द की भावना भाएँ । हम अपनी दिनचर्या के प्रत्येक कार्य को प्रसन्नता, मनोयोग एवं बोधपूर्वक सम्पादित करें । हर तरह की प्रतिक्रिया से बचते हुए सुख-शांति के स्वामी बने रहें । सबके प्रति प्रेम, पवित्रता और मैत्री का व्यवहार रखें । सात्विक आहार और मित-मधुर वाणी का उपयोग करें । यथासंभव मौन रखें । हर तरह के व्यसन से परहेज रखते हुए जीवन और व्यवहार को शुद्ध-संयमित बनाए रखें । हमारी प्रामाणिकता हमारी पहचान का प्रमुख चरण हो ।

‘गुरुवंदना’ के साथ ध्यान-सत्र का समापन करें एवं गुरुदेव का उद्बोधन (प्रत्यक्ष या कैसेट प्रवचन) सुनकर जीवन का मार्गदर्शन प्राप्त करें ।

गुरु-वंदना

गुरु की मूरत रहे ध्यान में,
गुरु के चरण बनें पूजन ।
गुरु-वाणी ही महामन्त्र हो,
गुरु-प्रसाद से प्रभु-दर्शन ॥

ध्यान की बैठक से उठने के बाद घर-परिवार के हर सदस्य को सहयात्री और प्रभु की मूरत मानते हुए, परस्पर अभिवादन करें, नमस्कार करें । प्रमोद-भाव से भर उठें ।



सांध्य-सत्र

समय : लगभग सवा घंटा

सांध्यकाल में संबोधि-ध्यान का अभ्यास करें। ध्यान की भावना हृदय में स्थापित करें। तन-मन को सहज विश्राम की स्थिति दें और आनन्द-भाव से प्रार्थना आदि सम्पन्न करते हुए ध्यान में प्रवेश करें।

प्रार्थना

१० मिनट

तीन बार नवकार मंत्र का सस्वर सामूहिक पाठ करें, पंच-परमेष्ठि की अंतर्दशा का ध्यान करते हुए—

नवकार महामंत्र

णमो अरिहंताणं,

णमो सिद्धाणं,

णमो आयरियाणं,

णमो उवज्जायाणं,

णमो लोए सव्व साहूणं ।

एसो पंच णमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवई मंगलं ।

नवकार-मंत्र के उपरान्त गुरुदेव की संबुद्ध प्रज्ञा से सृजित अनूठी रचना 'संबोधि-सूत्र' का संगीतमय गायन ध्यान की समझ को विकसित करने में सहायक होगा—

संबोधि-सूत्र

अन्तस् के आकाश में, चुप बैठा वह कौन !
 गीत शून्य के गा रहा, महागुफा में मौन ॥

बैठा अपनी छाँह में, चितवन में मुस्कान ।
 नूर बरसता नयन से, अनहद अमृत पान ।

शान्त हुई मन की दशा, जगा आत्म-विश्वास ।
 सारा जग अपना हुआ, आँखों भर आकाश ॥

मेरा-तेरा भाव क्या, जगत एक विस्तार ।
 जीवन का सम्मान हो, बाँहों भर संसार ॥

परम-प्रेम, पावन-दशा, जीवन के दो फूल ।
 बिन इनके यह चेतना, जमीं रजत पर धूल ॥

दृष्टि भले आकाश में, धरती पर हों पाँव ।
 हर घर में तरुवर फले, घर-घर में हो छाँव ॥

मंदिर का घंटा बजे, खुले सभी की आँख ।
 दिव्य-ज्ञान के सबद दो, मिले पढ़न हर साँझ ॥

शुभ करनी हर दिन करें, टले न कल पर काम ।
 सातों दिन भगवान के, फिर कैसा आराम ?

साधु नहीं, पर साधुता, पा सकता इंसान ।
 पंक बीच पंकज खिले, हो अपनी पहचान ॥

कोरा कागज ज़िंदगी, लिख चाहे जो लेख ।
 इन्द्रधनुष के रूप-सा, हो अपना आलेख ॥

ज्योति-कलश है ज़िंदगी, सबमें सबका राम ।
 भीतर बैठा देवता, उसको करो प्रणाम ॥
 काया मुरली बाँस की, भीतर है आकाश ।
 उतरें अन्तर्-शून्य में, थिरके उर में रास ॥
 मन के कायाकल्प से, जीवन स्वर्ग समान ।
 भक्ति से शृंगार हो, रोम-रोम रसगान ॥
 मन मन्दिर इंसान का, मरघट, मन श्मशान ।
 स्वर्ग-नरक भीतर बसे, मन निर्बल, बलवान् ॥
 मन की गर दुविधा मिटे, मिटे जगत्-जंजाल ।
 महागुफा की चेतना, काटे मायाजाल ॥
 जग जाना, पर रह गये, खुद से ही अनजान ।
 मिले न बिन भीतर गये, भीतर का भगवान ॥
 'समझ' मिली, तो मिल गयी, भवसागर की नाव ।
 बिन समझे चलते रहे, भटके दर-दर गाँव ॥
 मोक्ष सदा सम्भव रहा, मोक्ष-मार्ग है ध्यान ।
 भीतर बैठे ब्रह्म को, प्रमुदित हो पहचान ॥
 मनोभाव, अन्तदशा, समझ सका है कौन ?
 बोले, वह समझे नहीं, जो समझे, सो मौन ॥
 सदगुरु बाँटे रोशनी, दूर करे अंधेर ।
 अंधों को आँखें मिलें, अनुभव भरी सबेर ॥
 प्रज्ञा-पुरुष प्रकाश दे, अन्तर्-दृष्टि योग ।
 समझ सके जिससे स्वयं, मन में कैसा रोग ॥
 चित्-शक्ति की चेतना, अन्तस् का आह्लाद ।
 मुखरित होता मौन में, शाश्वत सोहं नाद ॥

नया जन्म दे स्वयं को, साँस-साँस विश्वास ।
 छाया दे संसार को, पर निस्पृह आकाश ॥
 मुक्ति मानव मात्र का, जीवन का अधिकार ।
 मन की खट-पट जो मिटे, तो हो मुक्त विहार ॥
 समझे वृत्ति-स्वभाव जो, साक्षी-भाव के साथ ।
 तो समझो होने लगा, उर में सहज प्रभात ॥
 रूप बने, बन-बन मिटे, चिता सजी सौ बार ।
 जनम-जनम के योग को, दोहराया हर बार ॥
 संबोधि से टूटती, भव-भव की जंजीर ।
 जरा झाँककर देख लो, अन्तस् में महावीर ॥
 सोने के ये पींजरे, मन के कारागार ।
 टूटे पर, कैसे उड़े, नभ में पंख पसार ॥
 हर मानव से प्रेम हो, हो चैतन्य-विकास ।
 आत्मोत्सव के रंग में, भीगी हो हर साँस ॥
 कालचक्र की चाल में, बनते महल मसान ।
 फिर कैसा मन में गिला, सदा रहे मुस्कान ॥
 बीते का चिन्तन न कर, छूट गया जब तीर ।
 अनहोनी होती नहीं, होती वह तकदीर ॥
 करना था, क्या कर चले ? बनी गले की फाँस ।
 पंक सना, पंकज मिला, बदलें अब इतिहास ॥
 सच का अनुमोदन करें, दिखे न पर के दोष ।
 जीवन चलना बाँस पे, छूट न जाये होश ॥
 बसैं नियति के नीड़ में, प्रभु का समझ प्रसाद ।
 भले जलाये होलिका, जल न सके प्रहलाद ॥

‘कर्ता’ से ऊपर उठें, करें सभी से प्यार ।
ज्योत जगाये ज्योत को, सुखी रहे संसार ॥

शान्त मनस् ही साधना, आत्म-शुद्धि निर्वाण ।
भीतर जागे चेतना, चेतन में भगवान् ॥

विशेषः—शाम के समय शरीर दिनभर की व्यस्त जीवनचर्या की आपा-धापी से थका हुआ होता है । प्रवृत्तियों का तनाव तन-मन पर हावी रहता है । अतः ध्यान में उतरने से पूर्व इस तनाव से मुक्त होना आवश्यक है । इसके लिए दो विधियाँ प्रस्तुत हैं—

१. **कायोत्सर्ग**—जब शारीरिक थकान प्रबल हो या जिन लोगों की आजीविका शारीरिक श्रम-प्रधान हो, उनके लिए यह विधि अनुकूल है ।

२. **तनावोत्सर्ग**—जिनका मन क्लान्त हो, उदास हो, प्रमाद या मानसिक तनाव से ग्रस्त हो अथवा जिनकी दिनचर्या मानसिक श्रम-प्रधान हो, उनके लिए यह विधि उपयुक्त है ।

कायोत्सर्ग

५ मिनट

मन को हम ध्यान में लगाएँ, उससे पूर्व शरीर को भी ध्यानमय बना लें । इसके लिए हम कायोत्सर्ग-ध्यान करें । कायोत्सर्ग मृत्यु-बोध की प्रक्रिया से गुजरने की कला है । देह-भाव और देह-राग को छोड़ते हुए विदेहानुभूति के लिए कायोत्सर्ग की प्रक्रिया अपने आप में एक विशिष्ट प्रयोग है । यह संबोधि-ध्यान में प्रवेश के पूर्व की तैयारी है ।

प्रक्रिया से गुजरने के लिए खड़े होकर, बैठकर या लेटकर सर्वप्रथम धीरे-धीरे श्वास लेते हुए पूरे शरीर में कसावट दें, श्वास को रोकते हुए सम्पूर्ण ऊर्जा के साथ समस्त मांसपेशियों को नाभि की ओर दो क्षण के लिए खिंचाव दें और तत्क्षण उच्छ्वास के साथ शरीर ढीला छोड़ दें । यह प्रक्रिया कुल तीन बार करें ।

अब शरीर के प्रत्येक अंग को मानसिक रूप से देखते हुए एक-एक अंग को शिथिल होने के लिए आत्म-निर्देशन दें । प्रातःकालीन सत्र के श्वासन की तरह का अनुभव करें ।

दाहिनी पैर के अंगूठे, अंगुलियाँ, तलवा, पंजा, एड़ी, टखना, पिंडली, घुटना, जाँघ, नितंब, कटि-प्रदेश को क्रमशः शिथिल करें। इसी क्रम से बाएँ पैर को शिथिल करें। फिर क्रमशः दायें और बायें हाथ के अंगूठे, अंगुलियों, हथेली, पृष्ठ भाग, कलाई, हाथ, कोहनी, भुजा एवं कंधों को शिथिलता का सुझाव दें। तदुपरान्त पेट, पेट के अंदरूनी अवयव, विसर्जन केन्द्र, बड़ी आँत, छोटी आँत, पक्वाशय, आमशय, किडनी, लीवर आदि, हृदय, फेफड़े, पसलियाँ, अन्न-नली, श्वास-नली, पूरी पीठ, रीढ़ की हड्डी, ईड़ा, पिंगला और सुषम्ना नाड़ियाँ, समस्त स्नायु, कंठ और गर्दन के भाग को शिथिल करें। इसके बाद चेहरे के एक-एक अंग—टुड्डी, होंठ, गला, आँख, कान, नाक, ललाट, सिर, बाल, मस्तिष्क के स्नायु और कोषाओं को भीतर तक देखते हुए शिथिल करें। शरीर के तादात्म्य को तोड़ें। निर्भारता का अनुभव करें।

अपने आत्म-प्रदेशों को स्थूल काया से बाहर अनन्त आकाश में विहार करते हुए देखें। स्वयं को निरंतर विराट होकर अखिल ब्रह्माण्ड में फैलता हुआ अनुभव करें। धीरे-धीरे अपने विराट हुए अस्तित्व को समेटना प्रारम्भ करें और एक चमकते प्रकाश के अणुरूप में, बिंदुरूप में इस तरह काया में लौटें जैसे हमारा नया जन्म हुआ हो। गहरी साँस के साथ चेतना का संचार करें लेकिन तनाव-मुक्ति बरकरार रखें।

तनावोत्सर्ग

५ मिनट

कायोत्सर्ग की ही तरह शरीर के एक-एक अंग का मानसिक निरीक्षण करें, लेकिन शिथिलता के स्थान पर प्रत्येक अंग में प्रसन्नता और मुस्कुराहट को विकसित करें। पैर के अंगूठे से प्रारम्भ कर सिर तक यानी रोम-रोम को प्रमुदितता और अन्तर्-प्रसन्नता का आत्म-सुझाव दें। अंत में अपने चेहरे पर विशेषकर होंठ, आँख और मस्तिष्क पर आनन्द-भाव को केन्द्रित करें और मन-ही-मन मुस्कुराएँ-खिलखिलाएँ। यदि अब भी तनाव महसूस हो, तो खिलखिलाकर हँसते हुए लोटपोट हो जाएँ।

आत्मनिरीक्षण करें और देखें कि यदि अब भी तनाव बाकी है तो हास्य को और विकसित करें और तब तक हँसें, खिलखिलाएँ जब तक थक न जाएँ।

हँसते हुए लोटपोट हो जाना अपने आप में तनाव-मुक्ति का सबसे सरल साधन है। जो हर हाल में प्रसन्न, प्रमुदित रहते हैं, वे तनावरहित होते हैं। मनुष्य के शरीर में ६५० मांसपेशियाँ होती हैं, एकमात्र हँसने से ही दो-तिहाई मांस-पेशियों के साथ शरीर की सभी कोशिकाएँ एवं केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र प्रफुल्लित हो उठता है और

मनोमस्तिष्क भी खिल उठता है ।

हो सकता है इस प्रक्रिया में हँसते-हँसते हमारी रुलाई फूट पड़े और हम जोर-जोर से रोने लगें, पर उसे रोकने का प्रयास न करें । खुलकर रो लें । आँसुओं के ये फूल गुरु-चरणों में अर्पित करें और तनाव-मुक्त हो जाएँ ।

अवसाद के रोगी इस प्रक्रिया को प्रतिदिन अपनाएँ, तो लगातार तीन माह के प्रयोग से वे रोग-मुक्त हो सकते हैं ।

संबोधि-ध्यान

४५ मिनट

सायंकालीन ध्यान के लिए गुरुदेव द्वारा जो विधि आविष्कृत है, उसे संबोधि-ध्यान की संज्ञा दी गई है । संबोधि का शाब्दिक अर्थ है—सम्यक् बोध या सम्पूर्ण बोध । संबोधि-ध्यान की विधि हमारी चेतना पर आच्छादित कषायों के आवरणों को हटाकर शुद्ध, संबुद्ध चैतन्य को प्रकट करने में बहुत ही सहायक हो सकती है । वस्तुतः दिन भर हमारी चेतना सांसारिक प्रवृत्तियों में लिप्त रहती है, औरों के लिए जीती है । लेकिन जिस तरह साँझ ढले पंछी अपने नीड़ में लौटकर विश्राम पाता है, वैसे ही हमारी आत्मा निजस्वरूप में विश्राम चाहती है, स्व में स्थित—स्व + स्थ होना चाहती है ।

सम्यक् समझ का अभाव होने के कारण व्यक्ति मन-बहलाव के साधन अपनाता है, पर ये साधन शांति, मुक्ति और आनन्द देने की बजाय, महज मन को भ्रमित ही करते हैं । हम अपनी बेचैनी का कारण नहीं समझ रहे हैं । बेचैनी का कारण है दिन-भर पर-पदार्थों से लिप्त हुई आत्मा परिश्रान्त होकर अपनी निजता में, अपने मूल अस्तित्व में जीना चाहती है ।

रात के बाहरी अंधकार में अंतर के प्रकाशित होने की, आत्म-प्रकाश के प्रकट होने की संभावना अधिक होती है । क्योंकि साँझ से ही चेतना निजत्व की खोज की बेचैनी और छटपटाहट से भर जाती है । तब इस खोज को आगे बढ़ाने वाले प्रयास अधिक गहरे और सफल हो सकते हैं, क्योंकि उस प्रयास में आत्मा की सहमति भी जुड़ जाती है ।

‘संबोधि-ध्यान-विधि’ ध्यान की बहुत ही गहरी विधि है । परिणाम हमारी अभीप्सा, लगन और प्रयासों की सघनता पर निर्भर करता है । अतः हम प्रमाद त्यागकर

अपनी ही अथाह गहराइयों में डूबें। बस चार चरणों की ही तो बात है। पाँचवाँ चरण तो मंजिल की उपलब्धि का चरण होगा। डग भरो कि भोर हुई।

प्रयोग-पद्धति

ध्यान के लिए अपने अनुकूल आसन का चुनाव करें। उपयुक्त मुद्रा अपनाएँ और ध्यान का प्रयोग प्रारंभ करें।

प्रथम चरण : एकाग्रता

५ मिनट

प्रथम चरण में अर्धोन्मीलित नेत्रों से अर्थात् आधी खुली, आधी बन्द आँखों से चित्त को नासाग्र पर केन्द्रित करें। यह त्राटक है। नाक के शिरोबिंदु को लगातार एकटक देखें और मन को हर विषय से हटाकर इसी बिंदु पर एकाग्र करने का प्रयास करें। यदि आँखें थक जाएँ, दृष्टि और विचार भटकें, तो आँखों को दो-एक बार झपकाकर पुनः प्रयोग करें। आँखों से आँसू बहने लगें तो भी चित्तित न हों, प्रयोग जारी रखें। नाक के अग्रभाग के चारों तरफ उभरते हुए आभामंडल को देखने का प्रयास करें। दिन-प्रतिदिन के अभ्यास से यह आभामंडल, प्रकाशकण, प्रकाश-वर्तुल अथवा प्रकाश-रेखा के रूप में प्रत्यक्ष होने लगता है।

यह आभामंडल मनुष्य की चित्त-दशा, चैतन्य-स्थिति और लेश्या-मंडल का प्रतिबिम्ब है एवं चेतना के प्रवाह की झलक है, साथ ही आज्ञाचक्र एवं प्रज्ञा-केन्द्र के सक्रिय होने का सूचक है।

एकाग्रता के इस चरण से चित्त की चंचलता शांत होती है। भावदशा एवं लेश्याओं का बोध होता है।

द्वितीय चरण : अन्तर-सजगता

१० मिनट

प्रथम चरण से गुजरने के बाद हम अपनी चेतना को सांस के आवागमन के साथ जोड़ें और स्वयं को नासिका मूल स्थित प्रज्ञा-केन्द्र पर केन्द्रित रखें। धीरे-धीरे हम पाएंगे कि हमारी सांसें संतुलित और लयबद्ध हो गई हैं।

साँस के प्रति अपनी सजगता बढ़ाएँ। यह दमित मन के जागरण की स्थिति है, अतः इस सजगता से हमारे विचार-विकल्पों में एक बेचैनी, एक उथल-पुथल मचेगी, जिससे

साँसों की गति में भी उतार-चढ़ाव आएँगे। वृत्तियाँ, विकल्प, विचार उठते हैं, तो उठने दीजिए। उन्हें रोकने का प्रयास न करें। हम स्वयं को हर वृत्ति, हर विकल्प, हर विचार से, यहाँ तक कि साँसों से भी अलग रखकर उन्हें तटस्थ दृष्टा और साक्षी होकर ऐसे देखें, मानो वे हमारे विचार न होकर किसी और के हैं, हमारी वृत्ति न होकर किसी और की है। सांस लेने वाला कोई और है और विचारों को देखने वाला कोई और है।

इस प्रक्रिया से गुजरते हुए हम स्वयं अनुभव करेंगे कि हमारी अन्तर्-सजगता जैसे-जैसे प्रगाढ़ होती है, विचारों एवं वृत्तियों में होने वाली उथल-पुथल स्वतः शांत होती जा रही है। साँसों में पुनः लयबद्धता और संतुलन स्थापित हो रहा है। विचारों-विकल्पों की आवृत्ति कम होती जा रही है और वृत्तियों के आवेग कम होते जा रहे हैं। धीरे-धीरे हम उनसे मुक्त होते जा रहे हैं और हमारा बोधि-केन्द्र जाग्रत होता जा रहा है।

अन्तर्-सजगता के इस चरण से मुख्यतः हमारा अपने अचेतन और अवचेतन मन से सम्पर्क होता है, हम अपनी दमित और उद्दीप्त मनोदशा से परिचित होते हैं। संवेग-उद्वेग, वृत्ति-विकल्प शिथिल पड़ते हैं और चित्त-दशा शांत होती है। आत्म-तत्व जाग्रत होता है।

तृतीय चरण : अन्तर्यात्रा

१० मिनट

अपने विचारों, वृत्तियों से गुजरने और उनसे मुक्त होने के उपरांत साँसों के माध्यम से अपनी चेतना को प्राण-क्षेत्र पर लाएँ अर्थात् नाभि और कमर-प्रदेश के मध्य ले जाएँ। यह स्थान आंतरिक शक्ति का केन्द्र है। नाभि से पीछे सुषुम्ना तक के ऊर्जा-क्षेत्र पर साँसों को, प्राणों के प्रवाह को केन्द्रित करें। चित्त, मन और बुद्धि को नाभि-प्रदेश के प्राण-क्षेत्र पर उलट डालें। श्वास-धारा मंदतर और पुलकभरी हो। पाशविक वृत्तियों का केन्द्र नाभि से नीचे स्थित है, जिसकी जड़ें ठेठ पाँवों तक फैली हुई हैं। सजगता को नाभि से नीचे एक-एक अंग से गुजारते हुए संवेदनाओं का निरीक्षण कर अंगूठे तक पहुँचें और इन संवेदनाओं से मुक्त होते हुए उल्टे क्रम से वापस ऊपर नाभि पर स्वयं को केन्द्रित करें। इस प्रक्रिया से हमारी पाशविक वृत्तियाँ शान्त-मौन होने लगी हैं।

इस चरण से स्वास्थ्य, प्राण एवं शक्ति-केन्द्र सक्रिय होता है और नीचे की उत्तेजक ग्रन्थियाँ शांत एवं परिष्कृत होती हैं। हमारे आन्तरिक रोग क्षीण होते हैं तथा शरीर की जो तीन-चौथाई ऊर्जा काम-क्रोधजन्य संवेग-आवेग में नष्ट होती है, उसकी

रक्षा होती है ।

चतुर्थ चरण : चैतन्य-जागरण

१० मिनट

गहरे दीर्घ श्वास-प्रश्वास के माध्यम से रीढ़ की हड्डी के अंतिम सिरे के नीचे स्थित शक्ति-कुंड के साथ सभी अन्तस्-केन्द्रों को जगाएँ, प्राणों की समग्रता से शक्ति का जागरण करें । नाभि-केन्द्र पर ऊर्जा का स्वागत और संचय करें । और अब अत्यन्त पुलक के साथ अपनी अन्तर ऊर्जा को ऊपर उठाते चले जाएँ । हृदय-प्रदेश तक पहुँचें और आनन्द का कमल खिलने दें ।

यदि हम अपनी मूल शक्ति को हृदय-प्रदेश तक उठा पाने में सफल हो गये तो मानो हम अपने विकारों से, निम्नवृत्तियों, अशुद्ध चेतना और अशुभ लेश्याओं से कमलवत् ऊपर उठने लगे हैं और अब आगे की यात्रा सुगम हो गई है । क्रोध आदि शक्तियाँ, करुणा और पवित्रता में रूपान्तरित हुई हैं । दीर्घ एवं गहरे श्वास-प्रश्वास के माध्यम से थोड़ा और प्रयास करके शक्ति को ऊर्ध्व-शक्ति केन्द्र/शुद्धि-चक्र तक ले आएँ । यहाँ आकर शक्ति गहन शांति और प्रसन्न मौन के रूप में अभिव्यक्त होगी । कंठ से सुषुम्ना तक फैले हुए ऊर्जा-क्षेत्र पर प्राणों के केन्द्रीकरण से इंद्रियगत मौन का विकास होता है । लेकिन अभी यहाँ रुकना नहीं है । अभी चेतना का और उत्थान आवश्यक है । आगे बढ़ते जाइये और दोनों भ्रंशों के बीच तिलकवाले स्थान के लगभग एक इंच भीतर ऊर्जा का समीकरण कीजिए । अपनी चेतना को हर तरफ से हटाकर आज्ञा-चक्र पर केंद्रित कीजिए । बिंदु-रूप आत्म-ज्योति को साकार कीजिए और उस बिंदु को विराट करते-करते संपूर्ण ललाट में, पूरे मस्तिष्क में फैल जाने दें । प्रकाश की एक ज्योति-शिखा को मस्तक के ऊपरी भाग बोधिकेन्द्र सहस्रार तक पहुँचने दें । अधिकतम गहरे दीर्घ श्वास-प्रश्वास से चैतन्य-जागरण के इस चरण को पूर्ण कीजिए ।

पंचम चरण : मुक्ति-बोध

१० मिनट

और अंत में शरीर, मन, प्राण को शिथिल छोड़कर हर प्रयास से मुक्त होकर अन्तरलीन हो जाइये—हृदय में आत्मस्थ । डूब जाइये भीतर के अनन्त आकाश में, मुक्ति के अपरिसीम आनंद में, अर्थात् गहन विश्राम, परम मौन, अपूर्व शान्ति, परमानन्द दशा ।

सहज स्थिति होने पर परमात्म-रस पगे भजनों का गायन-रसास्वादन करें और भक्तिभाव में रचे-पचे सांध्यकालीन बैठक का समापन करें । (समय की सुविधा हो, तो मुक्तिसूत्र का पाठ करें—)

मुक्ति-सूत्र

अन्तर-हृदय की दृष्टि में, बस, मुक्ति का आकाश हो ।
 चिर दिव्यता के लोक में, शाश्वत हमारा वास हो ॥१ ॥
 जागे चिरन्तन आत्म-ज्योति, विषय से हम दूर हों ।
 करुणा-सरलता-सत्य-श्रद्धा भक्ति से भरपूर हों ॥२ ॥
 यह देह आखिर मरणधर्मा, देह से उपरत रहें ।
 विश्राम हो चैतन्य में, हर क्षण सदा जागृत रहें ॥३ ॥
 हम हों न हों, फिर भी जगत है, जगत बस इक सिलसिला ।
 कितने यहाँ आये-गये, फिर क्यों करें मन में गिला ॥४ ॥
 पृथ्वी-पवन-जल-नभ-अगन, हर रूप से मैं भिन्न हूँ ।
 हूँ साक्षी भर संसार का, सत् चित् सदा आनन्द हूँ ॥५ ॥
 मैं नर नहीं, नारी नहीं, इन्द्रिय नहीं, नहीं बद्ध हूँ ।
 मैं मुक्त अविचल आत्मा, इस बोध से संबुद्ध हूँ ॥६ ॥
 मिथ्या अहं के दोष से, दूषित हुई है भावना ।
 कर्ता नहीं, द्रष्टा बनूँ मंगलमयी हो कामना ॥७ ॥
 वो है बँधा जो मानता, खुद को बँधा संसार से ।
 जो मुक्त माने स्वयं को, वो मुक्त है जंजाल से ॥८ ॥
 यह विश्व तुझ में व्याप्त है, तू व्याप्त लोकालोक में ।
 रे छोड़ मन की क्षुद्रता, हो लीन आतम-लोक में ॥९ ॥
 चिन्तन करें, मैं कौन हूँ, आया यहाँ किस लोक से ?
 क्या है यथार्थ स्वरूप मेरा, जान निज आलोक से ॥१० ॥
 मैं मुक्त हूँ आनन्दघन, हूँ भिन्न जड़ के धर्म से,
 फिर भी ठगा जाता रहा, जाने यहाँ किस कर्म से ॥११ ॥

है मोह ही वह कर्म जो, ठगता रहा हर काल में ।
 अब तो करें ऐसा जतन, भवमुक्त हों हर हाल में ॥१२ ॥
 मैं हूँ अनश्वर आत्मा, मेरा मुझे ही नमन है,
 है जन्म-मृत्यु देह की, मेरा भला कब मरण है ॥१३ ॥
 जब चल पड़े मन की हवा, तो जगत की लहरें उठें ।
 पर साक्षी का संसार कैसा, सहज ही ऊपर उठे ॥१४ ॥
 बंधन तभी है जगत सब, मन में विषय की लहर हो ।
 मन निर्विषय यदि विषय से, तो मुक्ति बोले मुखर हो ॥१५ ॥
 मुक्ति यहीं संसार में, मैं मुक्ति का कर लूँ वरण ।
 सर्वज्ञ के पदचिह्न का, करना मुझे है अनुकरण ॥१६ ॥
 हम मर्म जानें मुक्ति का, मन द्वन्द्व से उपरत रहे ।
 सुख-दुख, पराजय-विजय से, मन वीतराग-विरत रहे ॥१७ ॥
 संसार क्या है, वासना का, एक अंधा सिलसिला ।
 निर्वाण तब, जब वासना से, मुक्ति का मारग मिला ॥१८ ॥
 किससे जुड़ें किसको तजें, संसार बस संयोग है ।
 जो भोगते संसार को, वह कर्म का ही भोग है ॥१९ ॥
 परिजन हुए बन्धन हृदय के, देह आखिर जल गई ।
 धन-सम्पदा के नाम पर, माया हमें ही छल गई ॥२० ॥
 कितने जनम मन-वचन-तन से, श्रम किया, पीड़ा सही ।
 दुर्भाग्य, किन्तु दूर हमसे, मुक्ति की मंजिल रही ॥२१ ॥
 हम ले चलें निज को वहाँ, जो शांत-सौम्य प्रदेश हो ।
 अन्तर-गुहा में लीन हों, शिव रूप ही बस शेष हो ॥२२ ॥
 मन शान्त हो, ऋजु हृदय हो, हो वीतमोह अहोदशा ।
 आभा मिले कैवल्य की, हो मुक्त चेतस् की दशा ॥२३ ॥

हम आत्म तारें, भव निवारें, चन्द्रप्रभ चिन्मय बनें ।
सर्वात्म में समदृष्टि हो, चैतन्य-ज्योतिर्मय बनें ॥२४॥

अंत में गुरु-वंदना करें और हाथों की कमल-मुद्रा बनाकर भावार्घ्य गुरु-चरणों में अर्पित करते हुए साधनापथ पर आगे बढ़ने के लिए उनका मंगल आशीष ग्रहण करें । आसन से खड़े हों, और सभी को करबद्ध अभिवादन कर रात्रि-विश्राम के लिए विदा लें ।

उपसंहार

ध्यानयोग की उक्त प्रक्रियाएँ स्वास्थ्य, शांति, संबोधि और आनंद के मंगलमय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हैं । मनुष्य के पाशविक उद्वेगों और व्यवहारों के दिव्य रूपांतरण के लिए ध्यानयोग मूल मार्ग है । जीवन की कलुषताओं को जड़ से मिटाने के लिए यह सहज, सुलभ, सरलतम उपाय है । अन्तस् केन्द्रों के जागरण, निर्मलीकरण और साक्षात्कार के लिए यह जन-मन के लिए उपयोगी है ।

हमें सुख-सुविधाजनित समृद्धि के अनगिनत साधन उपलब्ध हुए हैं, किन्तु आन्तरिक शांति और समृद्धि के अभाव में हम जीवन के आनन्दमयी वरदान से वंचित हो गए हैं । हमारी शांति, शुद्धि, प्रगति और मुक्ति कुंठित हुई है । संबोधि-ध्यान मनुष्य का कायाकल्प और अभ्युत्थान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । इससे हमारे भीतर स्वतः ही धार्मिकता का उन्नयन होने लगता है । क्रोध-लोभ, भय-स्वार्थ, वैर-व्यभिचार, अपराध-आक्रोश धीरे-धीरे छूटते जाते हैं और सुख, शांति तथा आनंद के स्वस्तिकर लक्ष्य आत्मसात् हो जाते हैं । हम सत्यम् शिवम् सुंदरम् के महामार्ग के ज्योतिर्मान पथिक हो जाते हैं ।



धर्म और जीवन-सापेक्ष चिंतन-प्रधान विशिष्ट साहित्य

(अल्पमोली साहित्य,लागत से भी कम मूल्य पर)

ऐसे जिँएँ : श्री चन्द्रप्रभ

जीने की शैली और कला को उजागर करती विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक । स्वस्थ, प्रसन्न और मधुर-जीवन की राह दिखाने वाली प्रकाश-किरण । पृष्ठ 110, मूल्य 15/-

ध्यानयोग : विधि और वचन : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

ध्यान-शिविर में दिये गए प्रवचन एवं अनुभवों का अमृत आकलन; साथ ही ध्यान-योग की विस्तृत विधि । एक चर्चित पुस्तक । पृष्ठ 148, मूल्य 30/-

इक साथे सब साथे : श्री चन्द्रप्रभ

जीवन को नई चेतना और दिशा प्रदान करने वाला जीवन-सापेक्ष आध्यात्मिक चिन्तन । ध्यान-साधकों के लिए विशेष उपयोगी । पृष्ठ 148, मूल्य 30/-

जागो मेरे पार्थ : श्री चन्द्रप्रभ

गीता पर दिये गए विशिष्ट आध्यात्मिक अठारह प्रवचनों का अनूठा संकलन । गीता की समय-सापेक्ष जीवन्त विवेचना । भारतीय जीवन-दृष्टि को उजागर करता प्रसिद्ध ग्रंथ । एक बार अवश्य पढ़े । पृष्ठ 250, मूल्य 40/-

महाजीवन की खोज : श्री चन्द्रप्रभ

धर्म और अध्यात्म का समन्वय स्थापित करता एक सम्प्रदायातीत ग्रन्थ । आचार्य कुंदकुंद, योगीराज आनंदघन एवं श्रीमद् राजचन्द्र के सूत्रों एवं पदों पर दिये गये अत्यन्त गहन-गंभीर प्रवचन । पृष्ठ 140, मूल्य 25/-

समय की चेतना : श्री चन्द्रप्रभ

समय और काल का हर दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए समयबद्ध जीवन जीने की प्रेरणा देने वाली पठनीय पुस्तक । पृष्ठ 128, मूल्य 15/-

प्रेम की झील में, ध्यान के फूल : श्री चन्द्रप्रभ

प्रेम की रसमयता और ध्यान की गंभीरता – दोनों को एक ही पात्र में उड़ेलती एक प्यारी पुस्तक । पृष्ठ 90, मूल्य 15/-

पंछी लौटे नीड़ में : श्री चन्द्रप्रभ

अन्तर-साधना एवं व्यक्तित्व-विकास के सूत्रों को मनोवैज्ञानिक तरीके से उजागर करता एक पठनीय ग्रन्थ । पृष्ठ 160, मूल्य 30/-

संबोधि : श्री चन्द्रप्रभ

हमारा हर कदम होश और बोधपूर्वक सम्पादित हो, संबोधि-साधना की यह पहली और अंतिम प्रेरणा है । संबोधि-साधना के महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर उद्बोधन । सर्वजन हिताय; सर्वजन सुकाय । पृष्ठ 100, मूल्य 15/-

प्राकृत सूक्ति कोश : श्री चन्द्रप्रभ

प्राकृत-भाषा एवं आगम-साहित्य की सूक्तियों का विश्वकोष; सन्दर्भ एवं हिन्दी अनुवाद सहित । श्री नाकोडातीर्थ का प्रकाशन । पृष्ठ 330, मूल्य 40/-

जिएँ तो ऐसे जिएँ : श्री चन्द्रप्रभ

हमारी सोच और शैली में ही छिपा है जीवन की हर सफलता का राज । स्वस्थ, प्रसन्न और मधुर जीवन की राह दिखाने वाली अनूठी पुस्तक । पुस्तक महल, दिल्ली का अभिनव प्रकाशन । पृष्ठ 128, मूल्य 30/-

व्यक्तित्व-विकास : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

जीवन और व्यक्तित्व के बहुआयामी पहलुओं पर एक बेहतर बाल-मनोवैज्ञानिक प्रकाशन । पृष्ठ 112, मूल्य 15/-

मारग साँचा मिल गया : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

अध्यात्म-पुरुष श्रीमद् राजचन्द्र के प्रमुख पदों पर मानक प्रवचन । आत्मभावी पाठकों के लिए स्वाध्याय की श्रेष्ठ सामग्री । पृष्ठ 100, मूल्य 15/-

पर्युषण-प्रवचन : श्री चन्द्रप्रभ

पर्युषण-पर्व के प्रवचनों को घर-घर तक पहुँचाने के लिए एक प्यारा प्रकाशन; भाषा सरल, प्रस्तुति वैज्ञानिक । पढ़ें, कल्पसूत्र को अपनी भाषा में । पृष्ठ 112, मूल्य 20/-

जिन-सूत्र : श्री चन्द्रप्रभ

भगवान महावीर की अमृत वाणी के नित्य पठन एवं प्रेरणा के लिए तैयार किया गया विशिष्ट संकलन; समणसुत्त का संक्षिप्त/संशोधित रूप । अधिक प्रतियां मंगवाएँ और अपनी ओर से वितरित करें । पृष्ठ 80, मूल्य 3/-

आत्मदर्शन की साधना : श्री चन्द्रप्रभ

आत्म-साधना के मार्ग को प्रशस्त करते विशिष्ट उद्बोधन । अष्टपाहुड के विशिष्ट सूत्रों पर नवीनतम विश्लेषण । पृष्ठ 112, मूल्य 12/-

सत्यम् शिवम् सुन्दरम् : श्री चन्द्रप्रभ

श्री चन्द्रप्रभ के विशिष्ट जीवन-सूत्रों का संकलन । बातें छोटी, भाव गहरे । जीवन के हर कदम पर काम आने वाली पुस्तक । पृष्ठ 160, मूल्य 30/-

महागुहा की चेतना : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
संबोधि का प्रकाश आत्मसात् करने के लिए मुमुक्षुओं को दिया गया अमृत मार्गदर्शन ।
अध्यात्म की अमर रचना 'संबोधि-सूत्र' पर मानक प्रवचन । पृष्ठ 112, मूल्य 15/-

ध्यान का विज्ञान : श्री चन्द्रप्रभ

ध्यान की सम्पूर्ण गहराइयों को प्रस्तुत करता एक समग्र ग्रन्थ । अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर
बहुचर्चित । पृष्ठ 124, मूल्य 25/-

न जन्म, न मृत्यु : श्री चन्द्रप्रभ

मुक्ति और अमरता की खोज में तत्पर अन्तर्दृष्टि । अष्टावक्र-गीता पर दिए गए अद्भुत,
अनुभव-सिद्ध आध्यात्मिक प्रवचन । पूज्यश्री की श्रेष्ठ कृति । पृष्ठ 160, मूल्य 30/-

अब भारत को जगना होगा : श्री चन्द्रप्रभ

उस मानव चेतना के जागरण का आह्वान जो आज कायर और नपुंसक बन बैठी है,
भारतीय दृष्टि एवं मूल्यों को नये सिरे से समझने का नया उपक्रम । प्रबुद्ध पाठकों के लिए
विशेष उपयोगी । पृष्ठ 150, मूल्य 30/-

झरै दसहूँ दिस मोती : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

धर्म, अध्यात्म और जीवन-सिद्धान्तों के बीच स्थापित किया जाने वाला एक अनूठा
सामंजस्य । भाषा सरल, भाव गंभीर । जो उतरे, सो पावे । पृष्ठ 224, मूल्य 30/-

स्वयं से साक्षात्कार : श्री चन्द्रप्रभ

मन-मस्तिष्क की ग्रन्थियों को खोलने के लिए ध्यान-शिविर में दिये गये अमृत प्रवचन ।
जीवन और जगत् से सीधा संवाद । पृष्ठ 140, मूल्य 20/-

धर्म, आखिर क्या है ? : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

महावीर के सनातन संदेशों पर दिए गए अमृत-प्रवचन, जो हमें वर्तमान सन्दर्भों में जीवन
जीने की कला प्रदान करते हैं । पृष्ठ 160, मूल्य 30/-

ज्योति कलश छलके : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

जीवन-मूल्यों को ऊपर उठाने वाली एक प्यारी पुस्तक । भगवान् महावीर के सूत्रों पर
प्रवचन । पृष्ठ 160, मूल्य 30/-

सिवा प्रेम के : श्री चन्द्रप्रभ

जिंदगी और जहान के रंग हजारों, पर सिवा प्रेम के कहीं क्या है ? प्रेम-पथ को प्रशस्त
करती एक सुन्दर पुस्तक । पृष्ठ 102, मूल्य 10/-

सो परम महारस चाखै : श्री चन्द्रप्रभ

आनन्दधन के अध्यात्म-रसिक पद आज भी गाए-गुनगुनाये जाते हैं, पर उन पर इतने
बेहतरिन मौलिक प्रवचन आकंठ पीने जैसे हैं । पढ़िये, अंधेरे से प्रकाश में ले जाती इस
पुस्तक को । पृष्ठ 134, मूल्य 25/-

श्री चन्द्रप्रभ की कहानियाँ : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

महान् चिंतक श्री चन्द्रप्रभ के कहानीकार स्वरूप को दर्शाती एक भावभीनी पुस्तक, जिसमें अतीत की घटनाओं को नव्य और भव्य शैली में प्रस्तुत किया गया है। एक ऐसी पुस्तक जो सम्पूर्ण देश में पढ़ी जा रही है। पृष्ठ 102, मूल्य 20/-

सत्य की ओर : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

व्यक्ति अपने जीवन में किस सत्य की खोज करे और किस सत्य का अनुपालन, प्रस्तुत पुस्तक में इसी पहलु पर प्रकाश डाला गया है। पृष्ठ 100, मूल्य 15/-

प्रेरणा : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

संसार में समाधि के फूल कैसे खिल सकते हैं, आध्यात्मिक संतों के जीवन से जुड़े सच्चे घटनाक्रमों के द्वारा उसी का सहज विन्यास। पृष्ठ 100, मूल्य 15/-

जीवन, जगत और अध्यात्म : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

जीवन-जगत की समस्याओं के समाधानों को दृढ़ने का प्रयास। सटीक प्रवचन, श्रेष्ठ पुस्तक। पृष्ठ 180, मूल्य 30/-

ऐसी हो जीने की शैली : श्री चन्द्रप्रभ

जीवन और धर्म-पथ को पुनर्परिभाषित करते हुए जीने की साफ-स्वच्छ राह दिखाती पुस्तक। घर-घर में पठनीय। पृष्ठ 160, मूल्य 30/-

भोमिया भावांजली : प्रकाशकुमार दफ्तरी

अधिष्ठायक देव श्री भोमियाजी के लोकप्रिय भजनों का अनूठा संकलन। भक्तिप्रिय महानुभावों के लिए उपयोगी। पृष्ठ 64, मूल्य 7/-

संबोधि-ध्यान-मार्गदर्शिका : सुश्री विजयलक्ष्मी जैन

संबोधि-ध्यान-शिविर की प्रायोगिक मार्गदर्शिका; ध्यानयोग-विधि की तकनीकी बारीकी को लिये हुए एक महत्वपूर्ण पुस्तक। पृष्ठ 56, मूल्य 7/-

अन्तर के पट खोल : श्री चन्द्रप्रभ

ध्यान-साधकों को सत्य, शांति और आनंद की राह दिखाने वाली अभिनव पुस्तक। महर्षि पतंजलि के महत्वपूर्ण योगसूत्रों का भी उपयोग। पृष्ठ 96, मूल्य 15/-

आँगन में आकाश : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

तीस प्रवचनों का अनूठा आध्यात्मिक संकलन, जो आम आदमी को प्रबुद्ध करता है और जोड़ता है उसे अस्तित्व की सत्यता से। पृष्ठ 200, मूल्य 40/-

श्री अगरचन्द नाहटा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व : डॉ. शारदा गोस्वामी

प्राचीन साहित्य एवं इतिहास के मूर्धन्य विद्वान श्री अगरचन्द नाहटा के जीवन-वृत्त एवं कृतित्व पर लिखा गया शोध-प्रबंध। साथ ही श्री नाहटा के लिखे-छपे पाँच हजार से अधिक लेखों का सूची-पत्र। पृष्ठ 300, मूल्य 40/-

साक्षी की आँख : श्री चन्द्रप्रभ

जीवन-ज्योति से साक्षात्कार करवाती पुस्तक । जीवन के रहस्यों एवं सत्यों से परिचित करवाते आध्यात्मिक प्रवचनों का संकलन ।

आयार-सुत्तं : श्री चन्द्रप्रभ

भगवान महावीर की दिव्यवाणी का प्रथम धर्म-शास्त्र । मूल, हिन्दी अनुवाद एवं प्रत्येक अध्याय पर समय-सापेक्ष विशिष्ट चिन्तन । पृष्ठ 240, मूल्य 30/-

प्रार्थना : श्री चन्द्रप्रभ

भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर तक के चौबीस तीर्थंकरों की प्रार्थना, भजन के साथ भक्तामर, पारस इकतीसा और गौतम इकतीसा का संकलन । पृष्ठ 70, मूल्य 7/-

महासति पट्टान-सुत्त : श्री चन्द्रप्रभ

भगवान बुद्ध द्वारा विपश्यना-साधना की मौलिक प्रस्तुति । मूल वाणी एवं हिन्दी-अनुवाद । आत्म-साधना में सहयोगी मार्गदर्शन । पृष्ठ 48, मूल्य 7/-

वर्ल्ड रिनाउन्ड जैन पिलग्रिमेजेज : रिवरेंस एण्ड आर्ट : ललितप्रभ सागर

कला और श्रद्धा के क्षेत्र में विश्व-प्रसिद्ध जैन तीर्थों की रंगीन चित्रों के साथ नयनाभिराम प्रस्तुति । अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बहुचर्चित ग्रंथ । अपने विदेशी मित्रों को उपहार-स्वरूप प्रदान करने के लिए अनुपम ग्रंथ । पृष्ठ 160, 300/-

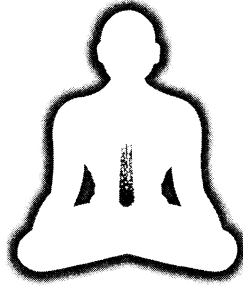
विशेष :- अपना पुस्तकालय अपने घर में बनाने के लिए फाउंडेशन ने एक अभिनव योजना बनाई है । इसके अन्तर्गत आपको सिर्फ एक बार ही फाउंडेशन को पन्द्रह सौ रुपये देना होगा, जिसके बदले में फाउंडेशन अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाले प्रत्येक साहित्य को आपके पास आपके घर तक पहुँचाएगा और वह भी आजीवन । इस योजना के तहत एक और विशेष सुविधा आपको दी जा रही है कि इस योजना के सदस्य बनते ही आपको रजिस्टर्ड डाक से फाउंडेशन द्वारा प्रकाशित सम्पूर्ण 'उपलब्ध साहित्य' निःशुल्क प्राप्त होगा । साहित्य वही भेजा जा सकेगा जो उस समय स्टॉक में होगा ।

रजिस्ट्री चार्ज एक पुस्तक पर 20/- रुपये, न्यूनतम दो सौ रुपये का साहित्य मँगाने पर डाक व्यय संस्था द्वारा देय । धनराशि श्री जितयशाश्री फाउंडेशन कोलकाता के नाम पर बैंक-ड्राफ्ट या मनिआर्डर द्वारा भेजें । वी.पी.पी. से साहित्य भेजना शक्य नहीं होगा । आज ही लिखें और अपना ऑर्डर निम्न पते पर भेजें —

जितयशा फाउंडेशन

9 सी-एस्प्लानेड रो ईस्ट
रूम नं. 28, धर्मतल्ला मार्केट
कोलकाता-700 069
☎ 220-8725

बी-7, अनुकम्पा, द्वितीय
एम.आई. रोड
जयपुर-302 001 (राज.)
☎ 364737



संबोधि-धाम

[धर्म और जीवन-दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप]

योग और साधना के क्षेत्र में संबोधि-धाम किसी पवित्र तीर्थ के समान है। धरती पर वे स्थान किसी श्रेष्ठ मन्दिर की तरह ही होते हैं, जहाँ मन की शान्ति और आध्यात्मिक सत्य की साधना होती है। संबोधि-धाम जोधपुर की कायलाना झील और अखयराज सरोवर के समीप पर्वतमालाओं की गोद में स्थित एक ऐसा साधना-केन्द्र है, जहाँ अब तक बीस हजार से अधिक लोगों ने सत्य, शान्ति और मुक्ति की साधना की है। हर व्यक्ति शान्त मन का स्वामी बने, बोधपूर्वक जीवन जिए और मुक्ति को आत्मसात् करे, संबोधि-साधना की सबके लिए यही पावन प्रेरणा है।

संबोधि-धाम में प्रति सप्ताह रविवार को नियमित ध्यानयोग सत्र आयोजित होते हैं और वर्ष में चार बार संबोधि-साधना के विशिष्ट शिविर आयोजित किए जाते हैं। संबोधि-साधना के द्वार प्राणीमात्र के लिए खुले हैं। यहाँ न जाति का भेद है और न पंथ का आग्रह। सर्व धर्मों का सम्मान और 'मानव स्वयं एक मन्दिर' की सद्भावना को लिए संबोधि-धाम जन-जन की सेवा के लिए समर्पित है।

संबोधि-धाम का हरा-भरा वातावरण, यहाँ की शान्ति और नैसर्गिकता साधक को साधना की अनुकूलता प्रदान करती है। संबोधि-धाम के उन्नत शिखरों पर निर्मित ध्यान-मन्दिर और अष्टापद-मन्दिर हमें हिमालय और माउंट आबू का अहसास देते हैं। मन-मस्तिष्क के रोगोपचार के लिए यहाँ मनस् चिकित्सालय भी है, जिसमें जर्मनी और इंग्लैण्ड से आयातित 'पुष्प-अर्क' के द्वारा सफल उपचार होता है।

साधकों के नियमित उपयोग के लिए यहाँ साहित्य केन्द्र, पुस्तकालय, आवास-कक्ष, भोजनशाला, पर्ण-कुटीर, एकान्त-कक्ष आदि उपलब्ध हैं। मन की शांति, स्वास्थ्य-लाभ एवं आध्यात्मिक साधना हेतु आप यहाँ सादर आमंत्रित हैं।

श्री चन्द्रप्रभ ध्यान निलयम्

संबोधि-धाम, कायलाना रोड, जोधपुर-4 (राज.) फोन : 2629812

हम जिन बिंदुओं पर सोचेंगे, प्रकृति हमें उस ओर बढ़ने में मदद करेगी। किसी बिंदु पर मन को स्थिर करना ध्यान का ही एक रूप है। कहते हैं हस्तरेखाएँ बदलती हैं। जो रेखा आज है, जरूरी नहीं है कि वह छह महीने के बाद भी रहे। विचारों के परिवर्तन के साथ रेखाएँ भी बदलती रहती हैं। कुछ लोग रेखाओं को देख कर व्यक्ति की मनःस्थिति और भाग्यस्थिति बतलाते हैं। मैं कहूँगा तुम मन की स्थिति सुधार लो, हस्तरेखा की स्थिति अपने आप सही हो जाएगी। असली खोट मनुष्य के मन में है, उसके हाथ में नहीं।

—श्री चन्द्रप्रभ